पौराणिक कहानियाँ

सन्तराम वत्स्य

दो शब्द

'पौराणिक कहानियाँ' में विशेष प्रकार की कहानियों को संकलित किया गया है। सभी कहानियों में स्वर्ग के देवता मर्त्यलोक के किसी चारित्र्य-सम्पन्न मानव के चरित्र को परीक्षा की कसौटी पर कसते हैं। अग्नि-परीक्षा के बाद जैसे सुवर्ण और भी खरे-निखरे रूप में चमक उठता है, वैसे ही पुराण के ये मनस्वी चरित्र भी, परीक्षा की अग्निदीक्षा के बाद चारित्र्य के मानदण्ड के रूप में हमारे सामने आते हैं।

हाड़-मांस के शरीर की उपेक्षा करके यशःशरीर की रक्षा करना—'पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु' तथा 'यशःशरीरे भव मे दयालुः'—कालिदास के इन शब्दों को इन उदात्त-चरित पुरुषों ने अपने आचरण से मूर्तिमन्त कर दिखाया है।

पुराणों की अपनी कथन-शैली है। उसे विज्ञान और तर्क की कसौटी पर कसना अनुचित है। पुराण-कथाएं पाप-पुण्य के त्याज्य और ग्राह्य विवेक के लिए रची गई हैं।

मैंने प्रयत्न किया है कि मूल कथाओं का भाव-सौन्दर्य सुरक्षित रहे। कहां तक सफल हुआ हूँ, कह नहीं सकता।

भारतीय जन-मानस पर पुराणों की छाप बड़ी गहरी है। इनमें आत्म-विस्तार की अभूतपूर्व क्षमता है। हमारे देश के निरक्षर जन भी श्रुति-परम्परा से इन्हें बहुत कुछ जानते हैं। श्रुति-परम्परा का सूत्र अब छिन्न होता जा रहा है। उसी की पूर्ति का यह छोटा-सा प्रयत्न है। चयन और रूपान्तर भर मेरा है। मैंने भाषा-शैली को सुबोध रखने का यत्न किया है।

—सन्तराम वत्स्य

कथा-क्रम

१. महाराज दिलीप और नन्दिनी गौ ५
२. राजा शिवि और कबूतर १६
३. यक्ष और युधिष्ठिर २१
४. युधिष्ठिर और कुत्ता ३४
५. सत्यवादी हरिश्चन्द्र ४६

पौराणिक कहानियाँ

सन्तराम वत्स्य

ज्ञानभारती, दिल्ली

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे

●

प्रथम संस्करण, १९७०

●

चित्रकार : प्रशान्त सेन

●

प्रकाशक :
ज्ञानभारती
४/१४, रूपनगर,
दिल्ली-७

●

मुद्रक :
राज कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली-३२

महाराज दिलीप और नन्दिनी गौ

रघुकुल के यशस्वी राजा दिलीप रानी सुदक्षिणा के साथ रथ पर बैठे कुलगुरु वशिष्ठ के आश्रम की ओर चले जा रहे थे। उन्होंने कोई सेवक साथ नहीं लिया था। वे नहीं चाहते थे कि नौकर-चाकरों की भीड़ से वे तपोवन के शान्त वातावरण को अशान्त करें। नगर से बाहर का मार्ग लगभग खाली था। रथ के पहिये मार्ग में बनी लीक पर चल रहे थे। रथ के चलने से घरघराहट का एक जैसा शब्द हो रहा था। मन्द-मन्द पवन बड़ा भला लग रहा था। रथ की घरघराहट को सुनकर जंगल के मोर चुगना छोड़ और गर्दनें ऊपर उठाकर निश्चल खड़े देखने लगते। स्वच्छन्दता से घूमते हुए हरिणों के जोड़े मार्ग से हटकर खड़े हो जाते और कान खड़े करके एकटक देखने लगते। वृक्षों पर बैठे पक्षियों का झुंड एक-साथ उड़ता और एक चक्कर काटकर फिर वृक्ष पर आ बैठता। तरह-तरह की पाँतों में उड़ते दूधिया बगुले ऐसे लग रहे थे जैसे किसीने बिना खम्भों के ही बन्दनवार टांग दिए हों। सामने से आता, जंगली फूलों की सुगन्ध से रचा-बसा मन्द पवन उनके पसीने को सुखा जाता और घोड़ों के खुरों से उड़ने वाली धूल को दबाता हुआ धीरे से पीछे ले जाता। महाराज दिलीप, पथ में पड़ने वाले विविध दृश्य रानी को बड़े चाव से दिखाते जा रहे थे। इस प्रकार यह लम्बा पथ बातों ही बातों में कब निकल गया, दोनों को इसका पता ही नहीं चला। महाराज और महारानी का चित्त आज खूब प्रसन्न था। उनके मुखमण्डल पर सदा जो

उदासी-सी छाई रहती थी, वह आज दिखाई नहीं दे रही थी। ऐसा लगता था जैसे बहुत शीघ्र ही उनका मनचाहा प्राप्त होने वाला है।

सांझ होते-होते वे कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ के आश्रम तक आ पहुंचे। शान्त तपोवन में इस संध्या के समय सभी लोग कुछ व्यस्त-से थे। कितने ही ब्रह्मचारी, ऋषि-मुनि वनान्तर से यज्ञ के लिए समिधाएँ और फल-मूल लेकर लौट रहे थे। मुनिकन्याएँ आश्रम के पौधों को सींच रही थीं। जहां वे पानी दे रही थीं, वहां पक्षियों की डारें आ बैठी थीं और पानी पी रही थीं। वत्सला गाएँ चर-चुग कर रम्भाती हुई लौट रही थीं और उनकी पुकार पर छोटे बछड़े भी रंभाते, चुप हो जाते और कान खड़े कर उत्सुक नेत्रों से माताओं को देखने लगते। आश्रम के हरिण कुछ तो बैठे जुगाली कर रहे थे और कुछ कार्यवश इधर-उधर आती-जाती ऋषि पत्नियों के पीछे-पीछे कुछ खाने को मिलने की आशा से चल रहे थे। पवित्र यज्ञ की अग्नि के प्रज्वलित किये जाने से जो धुआं उठ रहा था, पवन उसे इधर-उधर फैलाए दे रहा था।

राजा-रानी ने आश्रम के बाहर रथ पर बैठे-बैठे इस मनमोहक दृश्य को देखा। महाराज ने सारथि से घोड़ों को खोलने के लिए कहा और स्वयं सहारा देकर महारानी को रथ से उतारने लगे।

महाराज और महारानी आज आश्रम में पधारे हैं, यह पता लगते ही आश्रमवासी उनके स्वागत-सत्कार के लिए आ गए।

संन्ध्या-वन्दन और अग्निहोत्र की क्रियाएँ विधिवत सम्पन्न हो जाने के बाद ही महारज और महारानी कुलगुरु वशिष्ठ की वन्दना और दर्शन के लिए उनके पास गए। वे महर्षि भगवती अरुन्धती के साथ कुशा के आसन पर विराजमान थे। महाराज और महारानी ने चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया। महात्मा वशिष्ठ और अरुन्धती ने उन्हें दुलारते हुए शुभ आशीर्वाद दिया और यथोचित आदर-सत्कार किया।

फिर महर्षि वशिष्ठ ने पूछा "राजन्, आपके राज्य में सब कुशल तो है न ?"

महाराज ने नम्रतापूर्वक निवेदन दिया, "आपकी कृपा से राज्य में सब कुशल है। आपके तप के प्रभाव से राज्य में न तो अग्नि, जल, रोग और अकाल का संकट है और न ही चोर-डाकू और शत्रुओं का भय है। यह सब आपकी तपस्या का ही प्रभाव है। राज्य में किसीको भी, किसीसे कोई भय नहीं है। किन्तु ....."

"कहिये महाराज ! आप चुप क्यों हो गए ?" महर्षि ने महाराज को चुप देखकर आग्रह के साथ पूछा।

"किन्तु गुरुदेव ! आपकी इतनी कृपा रहने पर भी आपकी यह वधू निःसन्तान है। यही कारण है कि राज्य के समस्त सुख-वैभव मुझे अच्छे नहीं लगते। रघुकुल की वंश-परम्परा समाप्त हो जाने का ध्यान आते ही मेरे मन का सन्ताप बढ़ जाता है। हे गुरुदेव ! पुण्य कार्यों से मिलने वाला सुख जन्मान्तर में प्राप्त होता है और सत्पुत्र इस लोक और परलोक दोनों को सुखी बनाता है। महर्षि, जैसे अपने हाथों बोये और सींचे हुए आश्रम के पेड़ में फल न लगते देखकर आपको दुःख होता है, क्या वैसा ही दुःख अपने इस कृपापात्र को निःसन्तान देखकर आपको नहीं होता ? भगवन् ! पितृ-ऋण को न चुका सकने का संताप मुझे दिन-रात बेचैन रखता है। इसलिए कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे रानी पुत्रवती हो। हमारे वंश की कठिनाइयों को आप सदा दूर करते रहे हैं, इस बार भी आप ही की कृपा से यह संताप दूर होगा।"

महाराज की बात सुनकर महर्षि क्षणभर के लिए ध्यान-मग्न हो गए। फिर बोले, "राजन् ! बहुत वर्ष पहले एक दिन आप स्वर्ग से देवराज इन्द्र का कार्य करने के बाद पृथ्वी को लौट रहे थे। उस समय स्वर्ग के मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया में कामधेनु बैठी हुई थी। आप अपने ही विचारों

में मग्न थे। कामधेनु की ओर आपका ध्यान ही नहीं गया। कामधेनु अपनी इस उपेक्षा से आप पर क्रोधित हो उठी और उसने शाप दे दिया। वह शाप भी आपने नहीं सुना। उसने कहा था कि जब तक आप उसकी सन्तान की सेवा नहीं करेंगे, तब तक सन्तान-सुख प्राप्त नहीं होगा। जो लोग अपने पूज्यों का उचित आदर-सत्कार नहीं करते उनके शुभ कार्यों में रुकावट पड़ती है। इसलिए अब आप कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा करके उसे प्रसन्न कीजिए। नन्दिनी मेरे ही पास है और मैं उसे आपको दे दूंगा।"

इसी समय नन्दिनी गौ वन से चर-चुगकर आश्रम में आ पहुँची। वह नई कोंपल की तरह कोमल और गहरे लाल रंग की थी। उसके माथे पर सफेद बालों का टेढ़ा चन्द्रमा-सा बना हुआ था। उसके बड़े-बड़े और लम्बे थन दूध से भरे हुए थे। और उसकी पूंछ का सफेद अग्रभाग धरती को छू रहा था। बछड़े को देखते ही नन्दिनी के थनों से दूध की धाराएँ निकलने लगीं।

नन्दिनी की बात चलने पर उसका वन से आश्रम आ जाना और बिना दुहे ही दूध का थनों से बह जाना महर्षि को बड़ा शुभ लगा। उन्होंने महाराज दिलीप को विश्वास दिलाते हुए कहा, "महाराज! आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा। जैसे विद्यार्थी सब सुखों को छोड़कर प्रयत्न के साथ विद्या प्राप्त करता है, उसी प्रकार यदि आप भी सारे राज-सुखों को छोड़कर, पूरे परिश्रम से इसकी सेवा करेंगे तो यह आप पर प्रसन्न होकर आपकी मनोकामना को अवश्य पूरा करेगी।

"जब यह चलने लगे तो आप भी इसके पीछे चलें; खड़ी हो जाए तो खड़े हो जाएँ, यह बैठ जाए तो बैठ जाएँ और जब यह खाए-पिए तभी खाएं-पिएं। महारानी! आप भी प्रतिदिन प्रातः इसकी पूजा किया करें और जब यह वन को चरने जाने लगे तो थोड़ी दूर इसके साथ जाएँ और

सायं को जब इसके लौटने का समय हो तो भी इसके स्वागत के लिए कुछ दूर तक जाकर प्रतीक्षा करें और आगे करके ले आएँ। इस प्रकार अपनी सेवा से इसे प्रसन्न कीजिये।

"महाराज ! जिस प्रकार आप अपने पिता के योग्य पुत्र हैं, उसी प्रकार का सुयोग्य पुत्र आपके भी होगा।"

महाराज महर्षि की बातों को बड़े ध्यान से सुनते रहे और उन्हें निश्चय हो गया कि पवित्र अग्नि के सामने बैठ कर महर्षि ने जो कुछ कहा है, वह सच हो कर रहेगा। राजा-रानी दोनों ने कुलगुरु से कहा, "जैसा आपने कहा, हम वैसा ही करेंगे !"

रात्रि के भोजन का समय हो रहा था। आश्रम का सात्विक कन्द-मूल-फल का भोजन करके वे आश्रम की एक कुटिया में चटाई पर सो गए।

प्रातः जब आश्रम के ब्रह्मचारी वेद मंत्रों का पाठ करने लगे तो उस पवित्र वाणी से उनकी नींद खुल गई और वे प्रातः कृत्यों के लिए चले गए।

रानी ने स्नानादि के पश्चात् नन्दिनी गौ की पूजा की। फिर राजा ने बछड़े को दूध पीने के लिए खोल दिया। जब वह भरपेट दूध पी चुका तो उसे बांध दिया और नन्दिनी को वन ले जाने के लिए खोल दिया। राजा और रानी उसके पीछे-पीछे चले। आश्रम के द्वार पर से राजा रानी को लौटा अपने आप नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने लगे। वे श्रद्धा-भक्ति के साथ नन्दिनी की सेवा करने लगे। वे उसके लिए हरी और कोमल घास ले आते और अपने हाथ से खिलाते। जब वह जुगाली करने बैठ जाती तो उसके गले को खुजलाते। कभी उस पर बैठी काटने वाली मक्खियों को उड़ाते, कभी उसकी झबरी पूंछ में उलझी चीजों को छुड़ाते।

वह जिधर जाना चाहती जाने देते और पीछे-पीछे चल पड़ते। वह बैठती तो बैठ जाते और चलती तो चल पड़ते। वह पानी पी लेती तो पानी पीते। छाया की तरह सदा नन्दिनी का अनुसरण करते। यद्यपि इन दिनों वे सारे राजसी ठाठ-बाठ को छोड़ चुके थे, फिर भी उनका तेजस्वी व्यक्तित्व उनके गौरव को प्रकट कर देता था। वे धनुष-बाण लिये बड़े भले लगते।

जंगल में नन्दिनी के पीछे घूमते राजा का, पक्षी अपने विविध स्वरों से जयगान करते। फूलों वाली बेलें उनपर फूल बरसातीं। फूलों और औषधियों की गन्ध से मन्द पवन उनका पसीना सुखाता। वृक्ष उन्हें छाया प्रदान करते। साँझ उतरने को होती तो नन्दिनी आश्रम को लौट पड़ती। दिलीप उसके पीछे-पीछे आश्रम में प्रवेश करते तो रानी सुदक्षिणा नन्दिनी के स्वागत के लिए आश्रम के बाहर खड़ी मिलतीं। रानी सुदक्षिणा नन्दिनी की पूजा करतीं, फिर प्रदक्षिणा करके प्रणाम करतीं।

आश्रम में लौटकर राजा दिलीप महर्षि वशिष्ठ और अरुन्धती की चरणवन्दना करते। फिर वे सन्ध्या-वन्दन करते।

जब बछड़ा दूध पी चुकता और शेष दूध दूह लिया जाता तो दिलीप उसकी सेवा में लग जाते। जब वह आँखें मूँद लेती तो वे भी सोने के लिए कुटिया में चले जाते।

इसी प्रकार राजा-रानी को सेवा करते हुए इक्कीस दिन हो चले। उनकी सेवा और भक्ति में रत्तीभर भी त्रुटि नहीं हुई।

कामधेनु की पुत्री नन्दिनी ने मन में सोचा, 'राजा मेरी सेवा तो खूब कर रहे हैं। पर क्या यह स्वार्थ की सेवा नहीं है। उसने जाँच करने का निश्चय किया कि राजा की सेवा-भक्ति कैसी है?'

जब राजा दिलीप नन्दिनी को बाईसवें दिन वन में चराने ले गए तो नन्दिनी गंगा के एक झरने के पास जहाँ खूब हरी-भरी घास उगी हुई

थी, गुफा में जा घुसी। राजा ने नन्दिनी को उस ओर जाने से रोका नहीं। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि कोई भी हिंसक जानवर नन्दिनी पर आक्रमण नहीं करेगा, नहीं कर सकता।

राजा दिलीप यहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्य को निहार रहे थे कि इतने में एक सिंह झपटा और उसने नन्दिनी को दबोच लिया। सिंह के आक्रमण से डरकर नन्दिनी बड़े करुण स्वर में जोर से रंभा उठी। उसके रंभाने की ध्वनि-प्रतिध्वनि से वह वन प्रान्तर गूँज उठा।

नन्दिनी का करुण-विह्वल स्वर राजा दिलीप के हृदय को बींध गया। उन्होंने देखा कि सिंह नन्दिनी की पीठ पर चढ़ा बैठा है। अपनी रक्षित गौ पर हुए इस आक्रमण से राजा दिलीप एकदम क्रुध हो उठे, और उनकी आँखों में खून उतर आया। उन्होंने धनुष को कन्धे से हाथ में लिया और दूसरा हाथ तुणीर से बाण खींचने के लिए बढ़ाया। पर यह

क्या ! उनका हाथ तुणीर में अटका तो अटका ही रह गया। वे प्रयत्न करने पर अपने हाथ को छुड़ा नहीं पाए। इस बेबसी से उनका क्रोध और भी भड़क उठा। वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि बात क्या है। उनसे कुछ भी करते-धरते नहीं बन रहा था।

और तभी उन्होंने उस सिंह को मनुष्य की बोली बोलते सुना। उनके अचरज का ठिकाना न रहा।

सिंह बोला, "हे राजन् ! तुम मुझे मारने का निष्फल प्रयत्न मत करो। तुम्हारा कोई भी अस्त्र-शस्त्र मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। मुझे कोई ऐरा-गैरा सिंह मत समझ बैठना। मैं भगवान् शंकर का कृपा-पात्र गण कुंभोदर हूँ। यह तुम्हारे सामने जो सबसे ऊँचा देवदारु का पेड़ दिखाई दे रहा है, भगवान् शंकर इसे पुत्र की तरह प्यार करते हैं। भगवती पार्वती ने इसे अपने दूध से सींच कर पाला है। यही कारण है कि वे दोनों—शंकर और पार्वती—इसे पुत्र की तरह मानते हैं।

एक बार की बात है कि एक मदमस्त जंगली हाथी इसके तने के साथ रगड़-रगड़ कर अपनी कनपटी को खुजाने लगा। उस रगड़ से इसकी छाल छिल गई थी। इतनी-सी बात से पार्वती जी इतनी दुःखी हुईं कि जितनी दैत्यों के बाणों से घायल अपने पुत्र कार्तिकेय को देखकर भी नहीं हुई थीं। तब से शंकर जी ने मुझे इसकी रखवाली का काम सौंपा है। और उन्होंने मुझे कहा है कि आस-पास जो भी पशु आ जाए उसे मारकर मैं अपना गुजारा करूँ। मैं भूखा हूँ और गौ मेरी रखवाली के क्षेत्र में आ गई है। इसलिए अब तुम लौट जाओ। तुम इसकी रक्षा करना चाहते हो पर तुमने देख लिया कि तुम्हारे ये बाण मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। तुम निर्दोष हो। तुम्हें कोई कुछ नहीं कह सकता।"

रक्त-माँस के लोभी उस सिंह की बातें सुनकर राजा को विश्वास हो चला कि भगवान् शंकर के प्रभाव से ही बाण नहीं निकल सका।

इससे इस आड़े समय पर कुछ न कर सकने की उनकी खीझ कुछ कम हुई।

उनका हाथ अब भी तुणीर में अटका हुआ था। वे सिंह से बोले, "हे वनराज ! हाथ बंध जाने से मैं कुछ कर नहीं सकता। इसलिए मैं जो कुछ कहूँगा वह हास्यास्पद लगेगा। फिर भी, क्योंकि तुम मन की बात जानते हो इसलिए तुमसे कह रहा हूँ। सारी जड़-चेतन सृष्टि के स्वामी भगवान् शंकर में मेरी बड़ी श्रद्धा है। पर अपने गुरु के इस गोधन को भी अपनी आँखों से लुटते नहीं देख सकता। जैसे तुम अपने स्वामी की आज्ञा से इस देवदारु की रखवाली कर रहे हो वैसे ही मैं भी अपने गुरु की आज्ञा से इस गौ को रखवाली में नियुक्त हूँ। इसलिए तुम मुझे खाकर अपनी भूख मिटाओ और इसे छोड़ दो। इसका नन्हा बछड़ा इसकी बाट देख रहा होगा।"

इस पर सिंह व्यंग्य से हँस कर बोला, "हे राजन् ! मुझे लगता है कि तुम्हारी अकल मारी गई है। एक साधारण गौ के लिए तुम इतना बड़ा राज्य, जवानी और यह सुन्दर शरीर छोड़ने के लिए तैयार हो गए हो। और यदि तुम करुणावश ऐसा कर रहे हो तो भी इसमें कोई तुक नहीं है। अपने जिस शरीर को देकर तुम एक गाय की रक्षा करना चाहते हो, जीवित रहने पर उसी शरीर से तुम अपनी सारी प्रजा की रक्षा कर सकते हो। हाँ, अगर तुम्हें अपने तपस्वी गुरु जी का डर हो तो उन्हें तुम इसके बदले में हजारों दुधारू गाएँ देकर प्रसन्न कर सकते हो। अभी तुम्हारे जवानी के दिन हैं। सारे राज-सुख तुम्हें प्राप्त हैं। इसलिए अपने इस हृष्ट-पुष्ट शरीर को यों ही व्यर्थ नष्ट मत करो। शरीर से धर्म-कर्म होते हैं। और फिर तुम्हारा धर्म अपनी प्रजा की रक्षा करना है।" इतना कह कर सिंह चुप हो गया। उसकी गंभीर वाणी की अनुगूंज से ऐसा लगा जैसे किसी ने उसकी बात का समर्थन-अनुमोदन किया हो।

राजा ने सिंह की बातें सुनकर गाय की ओर दृष्टि घुमाई तो देखा कि वह भय से थरथर काँप रही है और उसकी करुण-कातर फटी-फटी-सी आँखें राजा से प्राणों की भीख माँग रही हैं। सच्चे क्षत्रिय राजा दिलीप का हृदय नन्दिनी के दुःख से कातर हो उठा। वे बोले, "हे सिंह, क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही यह है कि 'जो दूसरों को नष्ट होने से बचाए'। यदि मैंने इस क्षात्रधर्म का पालन नहीं किया तो मेरा राजा होना किस काम का! अपयश के साथ जीते रहने से तो मौत ही भली। तुम समझते हो कि इसके बदले बहुत-सी गौएँ देकर मैं गुरु वशिष्ठ को मना लूँगा! यह तुम्हारी भूल है। तुम इस गौ को नहीं जानते-पहचानते। यह कामधेनु से किसी बात में भी कम नहीं है। शंकर से शक्ति पाकर ही तुमने इस पर आक्रमण किया है। नहीं तो किसकी मजाल है जो इसकी ओर आँख उठाकर भी देख सके। इसलिए मैं अपना शरीर देकर भी इसकी रक्षा करूँगा। तुम भी भूखे नहीं रहोगे और महर्षि वशिष्ठ की यज्ञ-क्रिया में भी किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ेगा। तुम्हीं बताओ, स्वामी अपने सेवक पर जिसकी रक्षा का भार डालें, वह तो नष्ट हो जाए और सेवक जीवित बचा रहे तो वह कौन-सा मुंह लेकर स्वामी के पास जाएगा? यदि तुम मुझ पर दया दिखाना चाहते हो तो मेरे यशरूपी शरीर को बचाओ। क्योंकि मेरे जैसे लोग हाड़-मांस के शरीर से ज्यादा लगाव नहीं रखते। भले लोग दो कदम साथ-साथ चलने पर ही मित्र बन जाते हैं। हम दोनों तो एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित हो गए हैं और कितनी देर से बातें कर रहे हैं। इसलिए हम एक-दूसरे के मित्र ही हैं। इसलिए, हे भगवान् भूतनाथ के सेवक! अपने मित्र की इस प्रार्थना को मत ठुकराओ।"

राजा के नम्र वचनों को सुनकर सिंह बोला, "अच्छी बात है। तुम्हारी ही बात सही।"

इस समय राजा दिलीप का हाथ तुणीर से छूट गया। उन्होंने

धनुष-बाण एक ओर फेंक दिये और मांस के लोथड़े की तरह अपने आप सिंह के आगे जा पड़े। वे पड़े-पड़े यही सोच रहे थे कि सिंह अब उनके ऊपर अपने तीखे नखों से झपटने ही वाला है कि उनके ऊपर पुष्प वृष्टि होने लगी। और उसी समय उन्होंने बड़े मधुर स्वर में सुना, "उठो बेटा!"

राजा दिलीप ने सिर उठाकर देखा तो उनके पास थनों से दूध टपकाती नन्दिनी खड़ी थी। सिंह था कि था ही नहीं।

राजा दिलीप दूसरी बार आश्चर्य से आँखें फाड़कर इस अलौकिक घटना को देख रहे थे।

तभी नन्दिनी मनुष्य की बोली में बोल उठी, "हे राजन्! मैंने ही यह सब माया रचकर तुम्हारी परीक्षा ली थी। महात्मा वशिष्ठ के तपोबल के प्रभाव से यमराज भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। औरों की तो बात ही छोड़ो। मैं तुम्हारी गुरुभक्ति और मुझ पर दया दिखाने से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम मनचाहा वर माँग सकते हो।"

नन्दिनी के इस प्रकार कहने पर, याचकों को मुंह माँगा देने वाले और अपनी शूरवीरता से चारों ओर विख्यात राजा दिलीप ने हाथ जोड़ कर कहा, "माता, आप प्रसन्न हैं तो मेरी रानी सुदक्षिणा की कोख से वंश को बढ़ाने वाला और यशस्वी पुत्र उत्पन्न हो।"

नन्दिनी ने वर दिया, "ऐसा ही होगा।" फिर बोलीं, "अब तुम ऐसा करो कि एक दोना बनाकर, उसमें मेरा दूध दूह लो और उसे पी जाओ।"

राजा दिलीप ने कहा, "माँ, मैं चाहता हूँ कि आश्रम लौटकर बछड़े के भर पेट दूध पी चुकने पर और हवनादि क्रिया से बच रहने पर महर्षि की आज्ञा से ही मैं आप के पवित्र अमृत तुल्य दूध का पान करूँगा।"

यह सुनकर तो नन्दिनी और भी प्रसन्न हुई और दोनों वन से आश्रम को लौट पड़े।

राजा शिवि और कबूतर

यह कथा महाभारत से भी पहले की है। शिवि नाम के एक बड़ा धर्मात्मा और प्रजापालक राजा थे। उनके दान, त्याग और न्याय की बड़ी प्रसिद्धि थी।

एक दिन वह अपनी यज्ञशाला में बैठे हुए थे। उसी समय एक कबूतर उनकी गोद में आकर दुबक गया। इस कबूतर के कुछ पंख नुचे हुए थे। उसकी गर्दन और पेट के घावों से खून बह रहा था। वह बहुत डरा हुआ था और अब भी मारे डर के काँप रहा था। उसकी चोंच खुल गई थी और साँस धौंकनी की तरह तेजी से चल रही था।

राजा ने उसे प्यार से पुचकारा और हाथ फेरकर सहलाने लगे। उन्होंने पानी मँगाकर उसे पिलाया और छींटे दिये।

इतने में, एक बाज तेजी से उड़ता हुआ आया और पास ही बैठ गया।

बाज को देखकर कबूतर और भी दुबक गया और थरथर काँपने लगा।

अपना आहार छिन जाने से बाज बड़ा क्रुद्ध था। उसकी लाल-लाल आँखें, तीखी और मुड़ी हुई चोंच तथा तीखे-लम्बे काँटों वाले पंजे बड़े डरावने लग रहे थे। इस बाज को देखकर राजा शिवि कबूतर के घायल होने का कारण समझ गए।

राजा बाज की ओर देख ही रहे थे कि वह बाज मनुष्य की बोली में

बोल उठा, "राजन् ! यह कबूतर मेरा है। इसे मुझे सौंप दो।"

उस बाज को मनुष्य की बोली बोलते सुन राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बोले, "तुम इसे पकड़ लेते तो यह तुम्हारा होता। पर अब तो यह मेरे पास आ गया है और मेरा है। तुम्हारे पीछा करने पर किसी तरह बचकर यह मेरे पास आ गया है। शरण में आए की रक्षा करना प्रत्येक क्षत्रिय का धर्म है।"

"राजन् ! आप न्याय की बात नहीं कर रहे हैं। आप जानते ही हैं कि पक्षियों को मारकर खाना हमारा सहज स्वभाव है। आप मेरे आहार को मुझे न देकर घोर अन्याय कर रहे हैं। मैं और मेरे बाल-बच्चे सब भूखे हैं। बड़ी कठिनाई से मैंने इसे झपटा था। अब यह यहाँ दुबका बैठा है और आप इसके रक्षक बन गए हैं। मेरी और मेरे बाल-बच्चों की जो भूखों जान जाएगी, उसका पाप आप ही को लगेगा।" बाज ने कहा।

कबूतर बाज की बात को सुनकर, मारे डर के और भी काँपने लगा। उसने सोचा, 'कहीं राजा मुझे बाज को न सौंप दे।'

राजा ने कबूतर को सहलाते हुए, बाज को उत्तर दिया, "तुम्हारी बात एक तरह से ठीक ही है। फिर भी शरण में आए कि रक्षा करना मेरा धर्म है। और मैं अपने धर्म का पालन अवश्य करूँगा।"

बाज ने कहा, "यह धर्म नहीं, आपका अधर्म है। उस धर्म को धर्म कौन कह सकता है जो दूसरों के धर्म में रुकावट डाले। पक्षियों को मारकर खाना मेरा भी तो धर्म है। इस कबूतर को बचाकर आप मुझे और मेरे बच्चों को भूखा मारना चाहते हैं, यह आपका अच्छा धर्म है। सच्चा धर्म तो वही है, जो दूसरों को भी अपने धर्म का पालन करने देता है।"

राजा शिवि बोले, "तुम्हें और तुम्हारे बाल-बच्चों को भूखों मरने नहीं दिया जाएगा। इस कबूतर को छोड़कर खाने-पीने की दूसरी जितनी चीजें चाहो, मैं दे सकता हूँ।"

"राजन् ! कैसी भोली बातें करते हो। बाज क्या कोई दाल-भात खाते हैं।" बाज ने राजा का मजाक उड़ाते हुए कहा।

अब तो राजा को अपनी भूल मालूम हुई। वे बोले, "ऐ पक्षियों के राजा बाज ! आज तक तुमने कितने ही पक्षियों को मारकर खाया होगा। क्या मैंने उसमें कभी रुकावट डाली है ? और आज भी यह कबूतर स्वयं प्राण बचाने के लिए मेरे पास चला आया है। अब इसे तो मैं किसी तरह भी तुम्हें नहीं दे सकता। हाँ, चाहो तो इसके बदले में मेरा सारा राज ले लो।"

"तुम्हारा राज लेकर मैं क्या करूँगा ? वह मेरे किस काम आएगा ? बहुत देर हो रही है। मैं भूखा हूँ और मेरे बाल-बच्चे भी घोंसले से झाँक-झाँककर मेरे आने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। आप तो मजे में अपने परिवार के साथ राज-सुख भोग रहे हैं। भरे पेट होकर धर्म का उपदेश देना बड़ा सरल है। पर भूखे का धर्म सबसे पहले भोजन प्राप्त करना है। पहले मुझे मेरा भोजन यह कबूतर दे दो फिर मैं तुम्हारी धर्म की बातें अच्छी तरह सुन और समझ सकूंगा।" बाज ने कुछ क्रोध के साथ कहा।

राजा ने फिर दृढ़ता से उत्तर दिया, "मैंने तुम्हें एक बार कह दिया कि यह कबूतर नहीं मिल सकता। और चाहो सो ले लो। क्षत्रिय का धर्म है कि वह प्राण देकर भी शरण में आए की रक्षा करे।"

"महाराज आप क्षत्रिय हैं, तो इसका दण्ड मुझे और मेरे बच्चों को क्यों मिले ? आपके क्षत्रिय धर्म की सीमा क्या एक कबूतर को बचाने तक ही है ?"

"पक्षीराज ! बात को उसकी पूरी गंभीरता के साथ समझो। मेरे लिए यह एक छोटा-सा कबूतर भर नहीं है। मेरी शरण में आया हुआ एक प्राणी है। मैं उसे तुम्हें नहीं दे सकता, नहीं दे सकता। और जो चाहो सो माँग लो।" राजा ने फिर अपनी बात दोहराई।

बाज बोला, "राजन् ! इस कबूतर पर आपकी दया, करुणा और ममता विस्मय में डालने वाली है। अगर आप मुझे इसे नहीं दे सकते तो इसके भार के बराबर अपना मांस काटकर दे दीजिए।"

समस्या का हल मिल जाने से राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा, "मैं अपना सारा शरीर तुम्हें सौंपता हूँ। तुम मन चाहे ढंग से इसे खा सकते हो।"

"नहीं, नहीं, राजन् ! हम अपनी जीविका अपने बल-पौरुष से ही चलाते हैं। मैं इस कबूतर के भार के बराबर ही मांस लूंगा। न कम न अधिक।" बाज ने बड़े गर्व से कहा।

राजा ने तुरन्त तुला और छुरी मँगवाई। सेवक तुला लेकर आ गया तो उसमें एक ओर कबूतर को रखकर, दूसरी ओर छुरी से काटकर राजा अपना मांस रखने लगे।

पर यह क्या ! कितना ही मांस काटकर उन्होंने पलड़े में डाला, फिर भी कबूतर वाला पलड़ा ही भारी रहा। वे और मांस काटते गए। और पलड़े में डालते गए। फिर भी मांसवाला पलड़ा नहीं झुका तो नहीं झुका। कबूतर वाला पलड़ा ही भारी रहा।

जब राजा ने देखा कि यों काम नहीं चलेगा तो वे स्वयं उठकर पलड़े पर जा बैठे।

और तभी आकाश से फूल बरसने लगे। राजा की शरणागत की रक्षा करने से प्रसन्न होकर स्वर्ग के देवताओं ने फूल बरसाये थे। सभी लोग चकित होकर आँखें फाड़े इस पुष्प-वृष्टि को देख रहे थे कि कबूतर और बाज दोनों ही न जाने कहाँ चले गये। इतने में वहाँ दो देवता प्रकट हुए। इनमें एक इन्द्र थे और दूसरे अग्नि।

वे दोनों देवता राजा शिवि की प्रशंसा करने लगे। एक शरणागत कबूतर के बदले अपने अंग-अंग को काटकर देना कोई छोटा काम नहीं था। इन्द्र बोले, "आपकी परीक्षा लेने के लिए ही हमने यह सब किया था। मैं बाज बना था और अग्नि कबूतर। आप इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। आप जैसे धर्म का पालन करने वालों से यह पृथ्वी धन्य है। आप धन्य हैं। आपका चरित्र धन्य है।

यक्ष और युधिष्ठिर

जुए में हारने के बाद पाण्डवों को तेरह बरस का वनवास मिला था। वे जंगलों में घूम-घूमकर अपने वनवास के दिन काट रहे थे। यह उनके वनवास का बारहवाँ बरस था।

पाण्डव एक घोर घने जंगल में घूम रहे थे। घूमते-घूमते सबको प्यास लग पड़ी। किन्तु आस-पास कहीं पानी है कि नहीं, इसका उन्हें पता नहीं था।

पाण्डवों में सबसे बड़े युधिष्ठिर थे। उन्होंने नकुल को कहा, "नकुल, जरा इस ऊँचे पेड़ पर चढ़ कर देखो कि कहीं आस-पास कोई झरना या तालाब दिखाई देता है या नहीं ?" फिर अपनी ही बात को स्वयं काटते हुए बोले, "पर इतने घने ऊँचे वृक्षों में दिखना कठिन है। हाँ, जहाँ-कहीं जलाशय होगा, वहाँ के वृक्ष तुम्हें इस गर्मी की ऋतु में भी खूब हरे-भरे दिखाई देंगे। बगुलों, सारसों और दूसरे पक्षियों की उपस्थिति से भी तुम पानी होने का अनुमान लगा सकते हो।"

आज्ञा मिलते ही नकुल पास के ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देखा। उसे कुछ दूर जलाशयों के किनारे उगने वाले हरे-भरे वृक्षों का झुंड दिखाई दिया। सारसों की कूज की आवाज भी उस ओर से आ रही थी। सफेद-सफेद बगुलों के झुंड वृक्षों पर बैठे दिखाई दे रहे थे। नकुल ने ऊपर से भैया युधिष्ठिर को बताया और फिर नीचे उतर आया।

युधिष्ठिर ने उससे कहा, "नकुल ! तुम अपना तुणीर खाली करके ले जाओ और उसी में पानी भर लाओ। ज़रा जल्दी वापस आना। प्यास के मारे सभी के गले सूख रहे हैं। रास्ते का ध्यान रखना। कहीं वापस आते समय भूल न जाना।"

नकुल तुणीर लेकर झट पानी की दिशा में चल पड़ा। वह अपने पैरों को कांटों और शरीर को कंटीली झाड़ियों से बचाता हुआ, कभी झुककर, कभी बचकर सावधानी से किन्तु शीघ्रता के साथ बढ़ने लगा।

वह जल्दी ही निर्मल जल से भरे उस तालाब के किनारे जा पहुँचा। तालाब का तट बगुलों और सारसों से भरा था। दूसरे कई पक्षी भी पानी पीने वहां आए हुए थे और वृक्षों पर बैठे विश्राम कर रहे थे। इस स्वच्छ-निर्मल जल को देखकर नकुल की प्यास और बढ़ गई। वह पानी पीने के लिए तट पर झुका और अंजलि भरने लगा। तभी उसे एक बड़ी गंभीर आवाज़ सुनाई दी।

कोई कह रहा था, "ठहरो, युवक, जरा ठहरो। यह सरोवर मेरे अधिकार में है। इसका पानी पीने का यों साहस मत करो। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, तब पानी पीना और ले भी जाना।"

नकुल का प्यास के मारे बुरा हाल था। उसने इस आवाज की कोई परवाह नहीं की। उसे वहां कोई दिखाई भी नहीं दे रहा था। वह पानी पीने लगा किन्तु पहला घूंट पीते ही अचेत होकर गिर पड़ा।

उधर बैठे युधिष्ठिर-भीम आदि पानी की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनकी दृष्टि उसी ओर लगी हुई थी, जिस ओर नकुल गया था। पर देर तक जब नकुल नहीं लौटा तो युधिष्ठिर ने सहदेव से कहा, "सहदेव, नकुल पता नहीं अब तक क्यों नहीं लौटा ? अब तक तो उसे लौट आना चाहिये था। तुम जल्दी से जाओ, उसका पता भी लगाओ और शीघ्र पानी लेकर आओ। पता नहीं नकुल रास्ता भूल गया या क्या हुआ ?"

सहदेव उसी दिशा में चलता हुआ, सरोवर के तट पर पहुंचा। उसने देखा कि भाई नकुल किनारे पर अचेत पड़ा हुआ है। वह भी प्यासा था। भाई को यों पड़ा देखकर वह और भी व्याकुल हुआ। उसने सोचा, पहले पानी पी लूं, फिर देखता हूं कि क्या बात है ? वह भी पानी पीने के लिए झुका ही था कि आकाशवाणी सुनाई दी, "मेरी आज्ञा के बिना पानी पीने का साहस मत करना। इस सरोवर पर मेरा अधिकार है। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, तब जी भर कर पानी पीना और ले भी जाना।"

प्यासे सहदेव ने भी उस कहने वाले की परवाह न की। वह पानी पीने लगा और पीते ही गिरकर अचेत हो गया।

उधर पानी की प्रतीक्षा में बैठे शेष भाई प्यास और गर्मी से व्याकुल हो रहे थे। दोनों भाइयों के न लौटने से चिन्तित भी थे। बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर जब सहदेव भी नहीं लौटा तो युधिष्ठिर ने अर्जुन से जाकर उन दोनों का पता करने और पानी लाने को कहा। अर्जुन को

सावधान करते हुए उन्होंने कहा, "पर तुम भी कहीं उन्हीं की तरह वहीं मत रह जाना। जरा जल्दी आना।"

अर्जुन ने अपना धनुष कंधे पर रखा, तलवार हाथ में ली और सरोवर की दिशा में चल पड़ा। अर्जुन के मन में खटका था कि नकुल और सहदेव दोनों ही जाकर नहीं लौटे तो कहीं कुछ गड़बड़ जरूर है। इसीलिए वह सावधान और सशस्त्र था। वैसे उसे अपने छोटे भाइयों की वीरता पर पूरा भरोसा था कि उनमें से कोई अकेला भी शत्रुओं को मार भगाने के लिए पर्याप्त है।

अर्जुन भी सरोवर के तट पर जा पहुंचा और उसने दोनों भाइयों को अचेत पड़े देखा। उन्हें यों पड़े देखकर अर्जुन को बहुत दुःख हुआ। अर्जुन ने कंधे से धनुष उतार लिया और उस पर बाण चढ़ा कर चारों ओर देखने लगा कि यहां कौन है जिसने इन शूरवीरों को यों गिरा दिया है। अर्जुन ने चारों ओर दृष्टि घुमाकर बड़े ध्यान से देखा, पर वहां तो कोई भी नहीं था। बगुले और सारस जरूर थे पर उनसे किसी को क्या डर हो सकता था। वे तो अर्जुन को धनुष-बाण साधते देखकर ही उड़ने लगे थे। वहां न कोई मनुष्य था, न जंगली हिंसक जानवर। किसी के लड़ने के भी वहां कोई चिह्न नहीं थे। अर्जुन प्यासा तो था ही। उसने सोचा, 'पहले प्यास बुझा लूं, फिर पता लगाता हूँ कि क्या बात है?'

वह भी पानी पीने के लिए तट की ओर बढ़ा। इतने में आकाश-वाणी सुनाई दी, "क्यों व्यर्थ ही पानी की ओर बढ़ रहे हो? तुम बलपूर्वक यहां का पानी नहीं पी सकते। जब तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दे लोगे तभी पानी पी और ले जा सकते हो।"

अर्जुन ने यों पानी पीने से रोके जाने पर कहा, "तुम हो कौन? जरा मेरे सामने आकर रोको तो जानूं। तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े करके यहां फेंक दूंगा। फिर तुम किसी को इस तरह नहीं कहोगे।" यह कहते हुए

अर्जुन ने जिस ओर से आकाशवाणी हुई थी, उस ओर शब्दवेधी बाणों की वर्षा करनी प्रारम्भ कर दी। उसने इधर-उधर कितने ही बाण चला दिये।

फिर आकाशवाणी हुई, "यों व्यर्थ ही बाण-वर्षा क्यों कर रहे हो? तुम्हारे बाण मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। अच्छा तो यह है कि पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो और फिर पानी पिओ। और यदि प्रश्नों का उत्तर दिये बिना पानी पिओगे तो पीते ही मर जाओगे।"

अर्जुन ने आकाशवाणी की चेतावनी की रत्ती-भर भी परवाह नहीं की और पानी पीने लगा। अभी पानी का पहला ही घूंट गले के नीचे उतरा था कि अर्जुन भी अचेत होकर गिर पड़ा।

उधर युधिष्ठिर-भीम पानी की प्रतीक्षा में बैठे और प्यास से व्याकुल हो रहे थे। युधिष्ठिर ने बड़ी देर की प्रतीक्षा के बाद जब किसी को लौटते न देखा तो भीमसेन को भाइयों का पता करने और पानी लाने के लिए कहा।

भीमसेन भी चलता-चलता सरोवर के तट पर आ पहुँचा। उसने तीनों भाइयों को वहां अचेत पड़े देखा, जैसे पानी पीकर सो गए हों। वह बड़ा दुःखी हुआ। उसने सोचा, 'युद्ध में तो इन्हें कोई मनुष्य गिरा नहीं सकता। फिर लड़ाई का भी यहाँ कोई चिह्न नहीं है। हो न हो, यह किसी यक्ष या राक्षस का ही काम होगा। जिस किसी ने भी इन्हें गिराया हो, उससे मैं अवश्य लड़ूँगा। पर पहले पानी पी लूं।' वह पानी की ओर बढ़ा।

तभी आकाशवाणी हुई, "इस जलाशय पर मेरा अधिकार है। पानी पीने का दुःसाहस मत करना। पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दे लो, फिर जीभर पानी पीना और ले भी जाना।"

परन्तु भीम ने भी इस आकाशवाणी की परवाह नहीं की और पानी पीने लगा। वह भी पीते ही अचेत होकर गिर पड़ा।

थका-प्यासा युधिष्ठिर चारों भाइयों में से एक को भी लौटते न देखकर चिन्तित हो उठा। वह स्वयं सरोवर की दिशा में चल पड़ा।

सुनसान जंगल। न कहीं आदमी, न आदमी की जात। युधिष्ठिर भी सरोवर के पास आ पहुँचा। सरोवर का तट बेंत की बेलों से घिरा था और जहाँ-तहाँ कमल खिले हुए थे। सेवार के कारण तट का पानी हरा-सा दिखाई देता था। युधिष्ठिर ने जब इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो चारों भाइयों को तट पर पड़े देखा। भाइयों की इस आकस्मिक और असंभावित मृत्यु से युधिष्ठिर का हृदय रो उठा। आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी। वह देर तक विलाप करता रहा। विलाप करते हुए युधिष्ठिर ने कहा, "हे भीमसेन! तुमने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध में अपनी गदा से दुर्योधन की दोनों टाँगें तोड़ डालूँगा। आज तुम नहीं रहे और तुम्हारी प्रतिज्ञा भी नहीं रही।

"प्रिय अर्जुन! सभी कहते थे कि अर्जुन अकेला ही सारे शत्रुओं को मार भगाएगा। पाण्डव फिर से अपना खोया राज्य प्राप्त करेंगे। अर्जुन को युद्ध में मनुष्य तो क्या, देवता भी नहीं जीत सकते। ये सारी बातें आज झूठी हो गईं। अपने जिस गाण्डीव धनुष को तुम क्षण-भर के लिए भी अलग नहीं करते थे, वही आज अनाथों की तरह पड़ा है। तुम्हारी वीरता के भरोसे ही तो अब तक मैं एक से एक बढ़कर दुःखों को सहता रहा हूँ। अब तो तुम्हारा सहारा भी नहीं रहा। तुम दोनों के नाम से शत्रुओं के कलेजे काँपते थे। आज किस शत्रु ने तुम्हें यों मार गिराया! मुझ दुष्ट का हृदय सचमुच पत्थर या लोहे का बना हुआ है जो तुम्हें मरा पड़ा देखकर भी नहीं फटता। तुम्हारे शरीरों पर एक भी घाव नहीं है। फिर तुम इस तरह अचेत होकर क्यों पड़े हो?"

'होनहार बलवान् है', यह सोचकर युधिष्ठिर भाइयों की मृत्यु के कारण पर विचार करने लगा।

बहुत सोच-विचार करने पर भी कोई बात युधिष्ठिर को समझ में नहीं आई। अन्त में वह इसी निश्चय पर पहुँचा कि यह किसी मायावी शक्ति का ही काम हो सकता है, क्योंकि किसी के साथ लड़ाई होने का यहाँ एक भी चिह्न नहीं है। किसी के पैरों के निशान भी यहाँ नहीं हैं। फिर वह सोचने लगा –'हो सकता है, दुर्योधन ने षड्यंत्र रचकर इन्हें मरवा डाला हो!' पर वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सका। उसने सोचा, 'पहले पानी पी लेता हूँ। फिर पता लगाऊँगा कि क्या बात है?' फिर उसका ध्यान कपटी शकुनि की ओर गया। फिर मन में बात आई कि कहीं यह जल ही विषैला न हो। पर वहाँ पक्षियों को पानी पीते देखकर और जल में तैरती मछलियों से उसे निश्चय हो गया कि जल विषैला नहीं है। मरे भाइयों के चेहरे भी वैसे के वैसे ही थे, उन पर विष का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता था।

इसी सोच-विचार में डूबा युधिष्ठिर पानी पीने के लिए सरोवर में उतरा। पानी में पांव रखा ही था कि आकाशवाणी सुनाई दी, "युधिष्ठिर! इस सरोवर पर मेरा अधिकार है। मेरी आज्ञा के बिना इस पानी को छूना भी मत। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, तब पानी पीना और ले भी जाना। मैं सिवार और मछलियाँ खाने वाला बगुला हूँ। मैंने ही तुम्हारे इन भाइयों को मौत के घाट उतारा है। यदि तुम भी मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दोगे तो तुम्हारी भी वही गति होगी, जो इन चारों की हुई है।"

युधिष्ठिर ने कहा, "सच-सच बताओ, तुम कौन हो? यह काम कोई बगुला नहीं कर सकता और तुम भी मात्र बगुला नहीं हो। तुम कौन देवता, यक्ष व राक्षस हो, यह ठीक-ठीक बताओ? हिमालय, पारियात्र, विंध्य और मलय पर्वतों के समान अजेय मेरे चारों भाई किसने मार गिराए हैं? हे वीर श्रेष्ठ! तुमने वह पराक्रम कर दिखाया है, जिसे

आज तक कोई नहीं कर सका। तुम्हारा बल-विक्रम अद्भुत है। तुमने यह सब किस लिए किया और तुम क्या चाहते हो ? मैं नहीं जानता।

"तुम्हारे बारे में मुझे बड़ा कौतूहल है। मुझे तुम से कुछ-कुछ घबराहट भी होने लगी है। मैं बेचैन हूँ। मेरा सिर मारे दर्द के फटा जा रहा है। मैं आपसे नम्र निवेदन कर रहा हूँ, मुझे शीघ्र बताइये कि आप कौन हैं ?"

यक्ष ने कहा, "तुम ठीक ही कहते हो। मैं यक्ष हूं। पक्षी नहीं हूं। तुम्हारे ये वीर-पराक्रमी भाई मेरे द्वारा ही मारे गये हैं।"

यक्ष की ये कठोर और चुभने वाली बातें सुन कर युधिष्ठिर उसके पास जा खड़ा हुआ। उसका आकार बड़ा डरावना था। उसकी आँखें अंगारों की तरह जल रही थीं। वह बहुत ऊँचा और मोटा था। उसकी

गर्जन मेघों की तरह गंभीर थी। वह वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ था। यक्ष कह रहा था, "हे युधिष्ठिर, मैंने तुम्हारे इन भाइयों को बार-बार रोका पर इन्होंने मेरी एक नहीं सुनी। इन्होंने मेरे अधिकार को चुनौती दी और जबर्दस्ती पानी पीने लगे। इसीलिए मैंने इन्हें मार डाला। यदि तुम्हें अपनी जान प्यारी है, तो इनकी तरह जबर्दस्ती पानी पीने का यत्न मत करना। मैंने तुम्हें बता दिया है कि इस सरोवर पर मेरा अधिकार है। अब भी यदि तुम दुःसाहस करोगे तो तुम्हारे लिए ठीक नहीं होगा। पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दो, फिर मनमाना जल पिओ और जितना चाहो, ले भी जाओ।"

उसकी ये चेतावनी भरी बातें सुनकर युधिष्ठिर ने कहा, "हे यक्ष! मैं तुम्हारे अधिकार-क्षेत्र का उल्लंघन नहीं करना चाहता। मैं अपने मुँह अपनी बड़ाई नहीं करता। सत्पुरुष अपनी प्रशंसा करने को कभी अच्छा नहीं मानते। मैं अपनी समझ के अनुसार तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर दूंगा। जो पूछना चाहते हो, सो पूछो।"

यक्ष : अच्छा यह बताओ कि मनुष्य ज्ञानवान् किससे होता है? मनुष्य को बड़प्पन किससे मिलता है? उसका दूसरा साथी कौन है और वह बुद्धिमान कैसे बनता है?

युधिष्ठिर : वेदों और शास्त्रों को पढ़ने से मनुष्य ज्ञानवान् बनता है। तपस्या करने से बड़प्पन मिलता है। धैर्य ही उसका साथी है और वृद्ध जनों की सेवा से वह बुद्धिमान् बनता है।

यक्ष : ब्राह्मणों में देवताओं जैसी कौन-सी बात है और सत्पुरुषों वाली कौन-सी? उनका मनुष्यपन किस बात में है और असत्पुरुषों जैसा उनका कौन-सा आचरण है?

युधिष्ठिर : वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय देवताओं की-सी बात है और तपस्या सत्पुरुषों जैसी। मरना ही उनका मनुष्यपन है और दूसरों की

निन्दा करना असत्पुरुषों का-सा आचरण।

यक्ष : पृथ्वी से भी बड़ा क्या है ? आकाश से भी ऊँचा क्या है ? वायु से भी शीघ्र चलने वाला कौन है ? तिनकों से भी संख्या में अधिक क्या है ?

युधिष्ठिर : माता पृथ्वी से भी बड़ी है। पिता आकाश से भी ऊँचा है। मन वायु से भी तेज चलने वाला है। चिन्ता तिनकों से भी संख्या में अधिक है। अनगिनत चिन्ताएँ हैं।

यक्ष : कौन है जो सोने पर भी आँखें नहीं मूँदता ? कौन पैदा होकर भी हिलता-डुलता नहीं ? किसके हृदय नहीं होता है ? कौन वेग से बढ़ता है ?

युधिष्ठिर : मछली सोने पर भी आँखें नहीं मूँदती। अण्डा पैदा होने पर हिलता-डुलता नहीं। पत्थर के हृदय नहीं होता। नदी वेग से बढ़ती है।

यक्ष : धर्म, यश, सद्गति और सुख का स्थान क्या है ? एक-एक शब्द में उत्तर दो।

युधिष्ठिर : दया धर्म का, दान यश का, सत्य सद्गति का और सदाचार सुख का स्थान है।

यक्ष : श्रेष्ठ पुरुषों का उत्तम गुण क्या है ? धनों में उत्तम धन क्या है ? लाभों में प्रधान लाभ क्या है ? सुखों में उत्तम सुख क्या है ?

युधिष्ठिर : दया श्रेष्ठ पुरुषों का उत्तम गुण है। धनों में विद्या धन सबसे उत्तम है। लाभों में आरोग्य प्रधान लाभ है। सुखों में संतोष सबसे उत्तम है।

यक्ष : किस वस्तु को त्याग कर मनुष्य दूसरों को प्रिय होता है ? किसको छोड़कर पछताना नहीं पड़ता ? किसको छोड़कर

धनी बनता है ? और किसे छोड़कर सुखी होता है ?

युधिष्ठिर : अभिमान को त्यागकर मनुष्य दूसरों का प्रिय होता है। क्रोध को छोड़कर पछताना नहीं पड़ता। इच्छाओं को छोड़कर धनी बनता है और लोभ को छोड़कर सुखी।

यक्ष : मनुष्यों का कठिनाई से जीता जाने वाला शत्रु कौन है ? कभी न समाप्त होने वाली व्याधि क्या है ? भला कौन है और बुरा कौन ?

युधिष्ठिर : क्रोध ही कठिनाई से जीता जाने वाला शत्रु है। लोभ कभी न समाप्त होने वाली व्याधि है। सारे जीवों का हित करने वाला आदमी ही भला और दयाहीन आदमी ही बुरा होता है।

यक्ष : अच्छा युधिष्ठिर ! अब यह बताओ कि कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्रों को सुनने—इन चार में से कौन-सी एक बात के कारण ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है ?

युधिष्ठिर : केवल अच्छे आचार ही से ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है। इसलिए सदाचार का सदा पालन करना चाहिए। ब्राह्मण तो वही है जिसका आचरण पवित्र है।

और भी कितने ही प्रश्न यक्ष ने पूछे। युधिष्ठिर ने अपनी बुद्धि के अनुसार सब प्रश्नों के उत्तर दिये।

यक्ष युधिष्ठिर के उत्तरों से सन्तुष्ट हो गया। वह बोला, "युधिष्ठिर ! तुमने मेरे सभी प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर दिये हैं। तुम्हारे उत्तरों से मेरा समाधान हुआ है। मैं तुम्हारी बुद्धिमत्ता का प्रशंसक हो गया हूं और तुम पर प्रसन्न हूं। इसलिए तुम अपने इन मरे पड़े चार भाइयों में से जिस एक को चाहो, जीवित करा सकते हो।"

युधिष्ठिर ने कहा, "यह जो पक्के रंग और लाल आँखों वाला, लम्बी बाँहों और चौड़ी छाती वाला, शाल वृक्ष की तरह लम्बा नकुल है,

वही जीवित हो जाए।"

यक्ष ने कहा, "यह गदाधारी भीम और यह महापराक्रमी अर्जुन पड़ा है। इनमें से किसी को क्यों नहीं जीवित करवा लेते ? तुम्हारे सगे भाई तो ये ही हैं। नकुल तो तुम्हारी सौतेली माँ का बेटा है। क्या भीम और अर्जुन तुम्हें प्यारे नहीं हैं ?"

युधिष्ठिर ने कहा, "हे यक्ष ! मेरे पिता की कुन्ती और माद्री दो पत्नियाँ हैं। मैं कुन्ती का पुत्र हूँ और नकुल माँ माद्री का। मेरी दोनों माताएँ पुत्रवती रहें, इसलिए नकुल को जीवित कर दो। तेरह बरस के वनवास के बाद जब हम घर लौटेंगे तो दोनों माताएँ हमारा स्वागत करने आएंगी। वे पाँच में से केवल हम दो को देखेंगी। माँ माद्री जब देखेगी कि दोनों कुन्ती के पुत्र हैं और उसके दोनों पुत्र मर गए तो उसका मन दुखी होगा। हे यक्ष ! दोनों माताओं का मन न दुखे, वे अपना एक-एक पुत्र पाकर सुखी रहें, इसलिए नकुल को जीवित कर दो।"

यक्ष युधिष्ठिर की इस बात से बहुत प्रभावित और प्रसन्न हुआ। युधिष्ठिर का माता और सौतेली माता के लिए समान आदर भाव और भीम तथा अर्जुन को न जिलाकर नकुल को जीवित कराने का आग्रह उसकी धर्मप्रियता का उदाहरण था। इसलिए यक्ष ने चारों भाइयों को जीवित कर दिया।

यक्ष के कहते ही नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम चारों ऐसे उठ खड़े हुए जैसे सोकर जागे हों। उनके सचेत हो जाने से युधिष्ठिर का सारा दुःख-शोक दूर हो गया। उसने यक्ष से पूछा, "आप मुझे सच-सच बताइये कि आप हैं कौन ? मुझे तो आप यक्ष नहीं मालूम पड़ते। मेरे इन भाइयों को बल-पराक्रम में कोई नहीं जीत सकता। किन्तु आपने इन्हें बिना किसी शस्त्र-अस्त्र के ही धराशायी कर दिया और फिर जीवित भी कर दिया। आपका पहला कार्य शत्रुतापूर्ण था और दूसरा मित्रतापूर्ण।

इसलिए सच-सच बताइये कि आप वास्तव में हैं कौन ?"

यक्ष ने कहा, "युधिष्ठिर ! मैं न्याय का देवता धर्म हूं। मैं तुम्हारी परीक्षा लेकर जानना चाहता था कि तुम कितने धर्मात्मा हो। इस परीक्षा में तुम खरे उतरे। तुम्हारी धर्म-निष्ठा से मैं बहुत प्रसन्न हूं। जो लोग सदा सत्य बोलते हैं, अपने मन को वश में रखते हैं, पवित्र रहते हैं, स्वभाव से सीधे-सरल होते हैं, लोक-लाज का ध्यान रखते हैं और चंचल स्वभाव के नहीं होते, दूसरों की सेवा-सहायता करते हैं, इसके लिए कष्टों की परवाह नहीं करते तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, मैं उन पर सदा प्रसन्न रहता हूं। अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर—ईर्ष्या का न होना—मुझे प्रसन्न करने के उपाय हैं। ये सब गुण तुम में हैं। मैं तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूं और तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि तुम सदा धर्म का आचरण करते हुए अपना जीवन बिताओगे।"

यह कहकर यक्ष रूपधारी धर्म अदृश्य हो गए।

युधिष्ठिर और कुत्ता

यादव कुल आपस की लड़ाई में नष्ट हो चुका था। पाण्डवों के परम मित्र भगवान् कृष्ण भी स्वर्ग सिधार चुके थे। महाभारत युद्ध में बन्धु-बान्धवों के विनाश से पाण्डव पहले ही शोक से सन्तप्त थे, अब तो उनका शोक सीमा पार कर गया।

युधिष्ठिर ने भाइयों से कहा, "मैं समझता हूँ कि 'काल' से कोई पार नहीं पा सकता। इसकी शक्ति अजेय है। भगवान् कृष्ण को भी उसका बन्धन स्वीकार करना पड़ा। इसलिए हमें राज-पाट छोड़कर तप और त्याग का मार्ग पकड़ना चाहिए।"

सभी भाइयों ने उनकी बात का समर्थन किया। निश्चय हुआ कि पाँचों भाई और द्रौपदी हिमालय के लिए महाप्रस्थान करेंगे।

युधिष्ठिर ने सुभद्रा को बुलाकर कहा, "हम लोग जा रहे हैं। तुम्हारा पौत्र परीक्षित कुरु प्रदेश का राजा होगा। तुम धर्म का मार्ग कभी न छोड़ना।"

फिर उन्होंने अपने पितृकुल और मातृकुल के समस्त पितरों को जलांजलि दी और विधिवत् उनका श्राद्ध किया। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण का भी श्राद्ध और तर्पण किया। फिर उनके निमित्त ऋषियों-मुनियों को भोजन कराया।

परीक्षित को गुरु कृपाचार्य को सौंपकर उन्होंने मंत्री परिषद् और प्रमुख प्रजाजनों को बुलाकर अपने तपस्या करने जाने की बात सुनाई।

वे सब उनकी बात को सुनकर बेचैन हो उठे। उन्होंने युधिष्ठिर की बात का समर्थन नहीं किया। उन्होंने कहा कि आप हमें छोड़कर कहीं न जाएँ।

पर महात्मा युधिष्ठिर ने उनकी एक न मानी। उलटे कह-सुनकर सबकी सहमति प्राप्त कर ली। राजसी वस्त्रों और आभूषणों को उतारकर सबने तपस्वियों जैसे वल्कल वस्त्र पहन लिए। गृहस्थ आश्रम को त्यागने के सारे विधि-विधानों को पूरा करके उन्होंने गार्हस्पत्यादि अग्नियों को जल में विसर्जित कर दिया।

द्रौपदी सहित पाण्डवों को तपस्या के लिए जाते देखकर, सब प्रजा को उन दिनों की याद हो आई जब पाण्डव जुए में हारकर पहले भी वन को गए थे। सारी प्रजा इस दृश्य को देखकर भाव-विह्वल हो उठी। सबके गले रुंध गए और आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी। पर द्रौपदी सहित सभी पाण्डव इस महायात्रा से बहुत प्रसन्न थे।

सबसे आगे युधिष्ठिर चले, उनके पीछे महापराक्रमी भीम, गाण्डीव-धारी अर्जुन, नकुल-सहदेव और द्रौपदी चले। एक कुत्ता भी उनके पीछे-पीछे हो लिया।

नगर-सीमा पर से उन्हें पहुँचाने आई हुई प्रजा रोती-कलपती वापस लौट पड़ी।

द्रौपदी सहित पाण्डव महाप्रस्थान के पथ पर बढ़ते हुए पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। पीछे-पीछे कुत्ता भी चलता रहा। वे अनेक वन-पर्वतों, नदी-नालों को पार करते हुए आगे ही आगे बढ़ते गए। इस तरह व्रत-उपवासपूर्वक तीर्थों में स्नान करते और महात्माओं के दर्शन करते हुए वे लालसागर के तट पर जा पहुँचे।

यहाँ उन्हें पुरुष-वेशधारी अग्निदेव मार्ग रोके खड़े दिखाई दिये। उन्होंने अपना परिचय देते हुए पाण्डवों से कहा, "अर्जुन अभी तक अपने

गाण्डीव धनुष और दो तुणीरों को धारण किये चल रहा है। अब इन सबकी क्या आवश्यकता है ? यह गाण्डीव धनुष मैंने अर्जुन के लिए वरुणदेव से माँगा था। अब यह उन्हीं को वापस लौटा दिया जाना चाहिए।"

भाइयों के कहने से अर्जुन ने गाण्डीव धनुष और दोनों तुणीर जल में प्रवाहित कर दिये। अग्निदेव अन्तर्धान हो गए।

इसके बाद यह मण्डली खारे सागर के उत्तर तट पर होती हुई दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर बढ़ने लगी। वे आगे जाकर पश्चिम की ओर मुड़ गए। आगे जाकर उन्होंने सागर में डूबी हुई द्वारकापुरी को देखा। फिर पृथ्वी की परिक्रमा पूरी करने के विचार से वे उत्तर की ओर मुड़ गए और चलते रहे।

उत्तर में देवात्मा हिमालय के दर्शन कर कृतार्थ हुए। वे उसे भी पार कर गए और बालुका के विस्तीर्ण सागर में जा पहुँचे। इसके बाद वे महागिरि मेरु के पास जा पहुँचे।

वे जल्दी-जल्दी चल रहे थे और सांसारिक मोह-माया को छोड़कर भगवान् के चिन्तन में मग्न थे। इतने में देवी द्रौपदी गिर पड़ीं और अचेत हो गईं।

उन्हें गिरते देखकर भीमसेन ने युधिष्ठिर से पूछा, "भाई! द्रौपदी ने कभी कोई पाप नहीं किया था, फिर वह इस तरह क्यों गिर पड़ी ?"

युधिष्ठिर ने कहा, "भीम, तुम नहीं जानते ! द्रौपदी के मन में अर्जुन के प्रति विशेष पक्षपात था। उसी का यह परिणाम है। सब अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं।"

द्रौपदी प्राणहीन पड़ी थी, पड़ी रही। युधिष्ठिर ने उसकी ओर पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। वे एकाग्र मन से प्रभुचिन्तन करते हुए चलते रहे। कुछ ही दूर चले थे कि भाइयों में सबसे छोटे सहदेव भी गिर पड़े।

उन्हें गिरा देखकर भीम ने फिर युधिष्ठिर से वही प्रश्न दोहराया, "सदा-सर्वदा हम सब भाइयों की सेवा में लगा रहने वाला और अभिमान से शून्य सहदेव किस दोष के कारण गिर पड़ा ?"

युधिष्ठिर ने समझाते हुए कहा, "यह विद्या-बुद्धि में अपने से आगे किसी को कुछ गिनता ही नहीं था। इसी दोष के कारण इसका पतन हुआ है।"

शेष मण्डली फिर आगे बढ़ चली। द्रौपदी और सहदेव के गिर जाने से दुःखी होकर पराक्रमी नकुल भी गिर पड़ा।

भीम ने फिर पूछ लिया, "भाई, अनुपम रूपवान्, धर्मपालक और आज्ञापालन में तत्पर नकुल क्यों गिर पड़ा ?"

"भाई भीम, नकुल यही मानता रहा कि रूप में मेरी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। बस, इसी एक दोष के कारण वह गिर पड़ा है। अब तुम शोक-मोह छोड़ो और आगे बढ़ो।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।

कुछ ही आगे बढ़े होंगे कि लक्ष्य-बेध में बेजोड़ अर्जुन भी गिर पड़ा। उसे गिरा देखकर फिर भीम पूछने लगा, "भैया, हँसी-मजाक में भी जिसने कभी झूठ नहीं बोला, वह अर्जुन भी गिर पड़ा। यह उसके किस कर्म का फल है ?"

"अर्जुन को अपने शूरवीर होने का बड़ा अभिमान था। इसने एक बार अभिमान में आकर कहा था कि मैं एक ही दिन में समस्त शत्रुओं का नाश कर दूँगा, पर यह वैसा कर नहीं सका। बस, उसी एक दोष के कारण यह गिरा है।" युधिष्ठिर ने चलते-चलते भीम को समझाया। वे न रुके और न पीछे मुड़कर ही देखा। वे फिर बोले, "अर्जुन ने सारे धनुर्धरों का अपमान भी किया था। अपना कल्याण चाहने वाले को दूसरों का इस तरह अपमान नहीं करना चाहिए।"

कुछ पग चलने के बाद ही भीम भी गिर पड़ा। गिरते ही भीमसेन ने युधिष्ठिर को पुकारकर पूछा, "भैया, ज़रा मेरी ओर तो देखिए ! मैं गिर पड़ा हूँ। कृपया मेरे पतन का कारण भी बताइये ?"

"बहुत खाते थे तुम। तुम्हें भी अपने बल-पौरुष का अभिमान कम नहीं था। किसी को कुछ मानते ही नहीं थे। बस इसी दोष से तुम्हारा पतन हुआ।" बिना रुके और बिना पीछे देखे ही महात्मा युधिष्ठिर ने उत्तर दिया। कुत्ता अब भी उनके पीछे-पीछे चल रहा था। वे आगे और आगे बढ़ते गए, बढ़ते गए।

युधिष्ठिर बिना रुके, बिना पीछे देखे चलते चले जाते थे और पीछे-पीछे कुत्ता भी। सहसा उनके आगे देवराज इन्द्र रथ सहित आ उपस्थित हुए। वे अपनी गंभीर वाणी में बोले, "धर्मात्मा युधिष्ठिर ! आओ, इस रथ पर बैठो।"

युधिष्ठिर ने देवराज इन्द्र को नमस्कार किया और बोले, "देवेन्द्र! मेरे भाई और पत्नी मार्ग में गिरे पड़े हैं। वे भी मेरे साथ चल सकें, कृपया इसकी व्यवस्था कर दीजिये। उनके बिना मैं अकेला स्वर्ग में जाकर क्या करूंगा ? मैं अकेला स्वर्ग नहीं जाना चाहता।"

देवराज इन्द्र ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा, "चिन्ता न कीजिए महात्मा युधिष्ठिर, आपके भाई और रानी द्रौपदी तो पहले ही स्वर्ग पहुँच चुके हैं। आप जल्दी से रथ पर बैठ जाइये। वहाँ पहुँचने पर सब आपको मिल जाएँगे। वे सभी हाड़-माँस के शरीर को छोड़कर स्वर्ग सिधारे हैं। आप इस भौतिक शरीर सहित स्वर्ग पहुँचेंगे, बस इतना ही अन्तर है।"

युधिष्ठिर ने कहा, "मैं आप की बात से आश्वस्त हुआ किन्तु यह कुत्ता देख रहे हैं न आप ? यह मेरा बड़ा भक्त है। इस दुर्गम यात्रा में भी इसने मेरा साथ नहीं छोड़ा। यह भी मेरे साथ स्वर्ग चल सके, इसकी स्वीकृति दीजिए; क्योंकि मैं इसके साथ स्वार्थपूर्ण निर्दयता का बरताव नहीं कर सकता।"

देवराज इन्द्र बोले, "राजन्! तुम्हें अमरता, मेरी—देवराज इन्द्र की—बराबरी और स्वर्ग के सारे सुख-भोग मिल रहे हैं। इस कुत्ते को छोड़ो और मेरे साथ चलो। इसमें कोई निर्दयता नहीं है।"

पर युधिष्ठिर नहीं माने, बोले, "देवेन्द्र! मैं यह नीचतापूर्ण कार्य नहीं कर सकता। मुझे वह स्वर्ग नहीं चाहिए जिसके लिए मुझे अपने भक्त को छोड़ना पड़े। मेरे सिवा इसका और कौन है ?"

इन्द्र भी नहीं माने। बोले, "कुत्ते को छोड़कर ही आप देवलोक में प्रवेश पा सकते हैं। महात्मा धर्मराज! आपने भाइयों और पत्नी को छोड़ दिया, फिर उसको क्यों नहीं छोड़ देते ? यह आपका कैसा मोह है ?"

पर युधिष्ठिर भी अपनी बात से टलने वाले नहीं थे, वे बोले,

"देवराज इन्द्र, मेरे भाई और पत्नी मृत्यु को प्राप्त हुए हैं और उन्हें जीवित करना मेरे वश की बात नहीं है। मैंने उनका त्याग मृत्यु होने पर ही किया है। उनके बिना और स्वामीभक्त इस कुत्ते के बिना स्वर्ग में भी न जाऊँ, यह मेरे वश की बात है। यदि आप इसे ले जाने की अनुमति नहीं दे सकते तो न सही। जहाँ यह, वहाँ मैं, जहाँ मैं, वहाँ यह।"

तभी वह कुत्ता न जाने कहाँ लुप्त हो गया और सामने आ प्रकटे धर्मराज ! वास्तव में यह धर्मराज ही थे जो कुत्ते के रूप में युधिष्ठिर की परीक्षा ले रहे थे।

राजा युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए धर्मराज बोले, "हे युधिष्ठिर, तुमने अपने सदाचार, सब प्राणियों के प्रति दया-ममता और सत्य-भाषण से अपने कुल का गौरव बढ़ाया है। मैंने जब-जब तुम्हारी परीक्षा ली, तुम उसमें खरे उतरे। पहले द्वैतवन में यक्ष बनकर मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी। आज कुत्ते के लिए तुम स्वर्ग छोड़ने के लिए तैयार हो गए। अपने इसी ऊँचे चरित्र के कारण आप सशरीर स्वर्ग चलिए। चरित्र की ऊँचाई में आपकी बराबरी करने वाला तीनों लोकों में दूसरा कोई नहीं है।"

वे देवराज इन्द्र के लाए हुए रथ पर बैठ गए और तीव्र गति से ऊपर उठते हुए स्वर्ग जा पहुँचे। स्वर्ग में देवर्षि नारद ने उनका स्वागत किया। वे बोले, "अपने इस भौतिक शरीर सहित स्वर्ग में प्रवेश पाने वाले महात्मा युधिष्ठिर सर्वप्रथम व्यक्ति हैं। हे युधिष्ठिर ! धरती पर से तुम जितने नक्षत्रों और दूसरे ज्योतिर्पिण्डों को देखते थे, वे सभी विभिन्न देवताओं के लोक हैं। यहाँ तुम उन सबको देख सकते हो।"

नारद की बात सुनकर युधिष्ठिर बोले, "देवेन्द्र ! मेरे भाइयों को

शुभ या अशुभ जैसा भी स्थान प्राप्त हुआ हो, वहीं मैं जाना चाहता हूँ। उसके अतिरिक्त और किसी भी स्थान में जाने की मेरी इच्छा नहीं है।"

इन्द्र उन्हें समझाते हुए बोले, "युधिष्ठिर ! अपने शुभ कर्मों द्वारा प्राप्त हुए इस स्वर्गलोक के सुखों का आनन्द लो। मृत्युलोक के अपने स्नेह-बन्धनों को अब छोड़ दो। तुम्हें जो ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है, उसे आज तक कोई नहीं पा सका। तुम्हारे भाई भी इस स्थान के अधिकारी नहीं हैं। धरती पर की माया-ममता छोड़ो। देवर्षियों और सिद्धों के दर्शन कर अपने को कृतार्थ करो।"

"देवेन्द्र ! अपने भाइयों के बिना मुझे यहाँ रहने में जरा भी उत्साह नहीं होता। इसलिए मुझे भी वहीं ले चलिए जहाँ मेरी द्रौपदी और भाई हैं।"

देवर्षि नारद महात्मा युधिष्ठिर को स्वर्ग की शोभा दिखाने ले चले। तभी उन्होंने देखा कि उनका चिर शत्रु दुर्योधन स्वर्गीय शोभा से युक्त एक दिव्य सिंहासन पर देवताओं से घिरा बैठा है और सूर्य के समान चारों ओर उसका प्रकाश फैल रहा है। दुर्योधन की इस मान-बड़ाई को देखकर युधिष्ठिर का मन खीझ और क्रोध से भर उठा। वे जोर से देवताओं को सुनाते हुए बोले, "जिस दुष्ट दुर्योधन के कारण महाभारत का युद्ध हुआ और अपने ही बन्धु-बान्धवों का बध करना पड़ा, सारी भारतभूमि युद्ध की विनाशलीला से उजड़ गई, जिसने हमें निर्वासित किया और हम जंगलों में ठोकरें खाते फिरे, जिसने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया, जिसने एक दिन भी हमें सुख-चैन से नहीं बैठने दिया, उस दुर्बुद्धि के साथ मैं एक दिन भी स्वर्ग में नहीं रहना चाहता। मैं उसकी शकल नहीं देखना चाहता। मेरी तो वहीं जाने की इच्छा है, जहाँ मेरे भाई हैं।"

नारदजी को युधिष्ठिर का यह कहना अच्छा नहीं लगा। वे बोले, "राजन् ! अब पुराने वैर-विरोध को भूल जाओ। अब पुरानी बातों को

स्मरण कर-करके दुःखी होने से क्या लाभ !"

देवर्षि नारद की बातों को सुनकर युधिष्ठिर बोले, "महर्षे, जिस एक व्यक्ति के कारण पृथ्वी की भारी जन-धन की हानि हुई, जिसके कुकृत्यों का विरोध करने में हमें तिल-तिल जलना और गलना पड़ा, जो धर्म-द्वेषी, मित्रद्रोही और पापी है, उस दुर्योधन को यदि स्वर्गलोक की प्राप्ति हुई है तो मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म के पथ का अनुसरण करने वाले, सत्य-प्रतिज्ञ, सच्चे क्षत्रिय व्रत का पालन करने वाले मेरे भाइयों को कौन-सा लोक प्राप्त हुआ है ? मैं महारथी कर्ण से भी मिलना चाहता हूँ। हमारे पक्ष और कुल के और भी कितने ही शूरवीर धर्मयुद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त हुए हैं पर उनमें से मुझे यहाँ कोई भी दिखाई नहीं दे रहा है। मैं उन सबको देखना चाहता हूँ। वे सब भी यदि इसी स्वर्गलोक में हैं तो मैं भी यहाँ रहूँगा; नहीं तो जहाँ कहीं वे हैं, वहीं रहूँगा। उनके बिना स्वर्गलोक मेरे लिए व्यर्थ है। मेरे लिए तो वही स्थान स्वर्गतुल्य है, जहाँ मेरे ये बन्धु-बान्धव होंगे।"

देवता बोले, "यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है तो चलो। देवराज की आज्ञा है कि जो आपको अच्छा लगे वही हम करें।"

यह कहकर उन्होंने देवदूत को आज्ञा दी कि महाराज युधिष्ठिर को इनके सम्बन्धियों के दर्शन कराओ। तब युधिष्ठिर देवदूत के साथ उस स्थान की ओर चले जहाँ उनके आत्मीय जन थे। चलते-चलते वे ऐसे दुर्गम मार्ग पर आ पहुँचे जो बहुत अशुभ था। पापी जन अपने पापों का दण्ड भोगने के लिए उस मार्ग पर आते-जाते थे। उस मार्ग में घना अन्धकार छाया हुआ था। चारों ओर से ऐसी तीखी दुर्गन्ध आ रही थी कि सिर फटा जाता था। माँस-रक्त के कीचड़ से सारा मार्ग अटा पड़ा था। हाड़ और केश पग-पग पर पैरों से टकराते-उलझते थे। सड़े हुए मुर्दों की सिर चकरा देने वाली दुर्गन्ध से साँस लेना कठिन हो रहा था। कीड़े किल-

बिला रहे थे और तीखे दंश वाली मक्खियाँ भिनभिनाती हुई काट खा रही थीं। पास ही श्मशानाग्नि धधक रही थी और उसकी लपटें इन्हें जलाए जाती थीं। वहाँ लोहे जैसी कठोर और भाले जैसी तीखी चोंचों वाले चील-कौवे मँडरा रहे थे।

राजा युधिष्ठिर घोर चिन्ता की मुद्रा में, इन घिनौने दृश्यों को देखते हुए मार्ग के बीचों-बीच चल रहे थे। कुछ दूर चलने पर उन्होंने खौलते-उफनते पानी से भरी हुई नदी देखी। इस नदी के पार छुरों जैसे पत्तों वाला असिपत्र नामक घोर वन था। गर्म बालू, जलती हुई चट्टानें, खौलता हुआ तेल, एक से एक बढ़कर कष्टदायक वस्तु वहाँ विद्यमान थी। युधिष्ठिर ने दुखी और व्याकुल होकर देवदूत से पूछा, "अभी इसी तरह और कितना लम्बा मार्ग हमें चलना होगा ? मेरे भाई कहाँ हैं, यह आपने अभी तक मुझे नहीं बताया ? मैं जानना चाहता हूँ कि देवताओं का यह कौन-सा लोक है ?"

युधिष्ठिर को दुःखी देख देवदूत ने कहा, "बस, यहीं तक आपको आना था। अब लौट चलिए। महाराज ! मुझे देवताओं की आज्ञा है कि ज्यों ही आप थक जाएँ, आपको वापस लौटा ले चलूँ।"

युधिष्ठिर वहाँ की दुर्गन्ध और बीभत्स दृश्य को देखकर घबरा गए थे। उनका सिर चकराने लगा था और लगता था कि उन्हें मूर्च्छा आ जाएगी। उन्होंने देवदूत से लौट चलने के लिए कहा। पर ज्योंही वे पीछे को मुड़े, उन्हें चारों ओर से दीन-दुःखी कराहते मनुष्यों की पुकार सुनाई दी, "हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! हम लोगों पर कृपा करने के लिए दो घड़ी तो यहाँ ठहरिये। आपके यहाँ आते ही ऐसी सुखद वायु चलने लगी है कि हमारे सारे दुःख-क्लेश दूर हो गए हैं। घोर कष्टों को भोगते हुए आज एक युग के बाद आपका पुण्य दर्शन पाकर हम सुख का अनुभव कर रहे हैं।"

कष्ट भोग रहे उन प्राणियों के दीन वचनों को सुनकर युधिष्ठिर ठिठककर खड़े हो गए। उन्होंने पूछा, "आप लोग कौन हैं और यहाँ क्यों रहते हैं ?"

उनके प्रश्न करने पर सब अपना-अपना नाम-धाम बताने लगे। एक आवाज आई, "प्रभो ! मैं कर्ण हूँ।" दूसरा बोला, "मैं भीम हूँ।" फिर "मैं अर्जुन हूँ।" "मैं नकुल हूँ।" "मैं सहदेव हूँ।" "मैं द्रौपदी हूँ।" एक-एक सहोदर, सम्बन्धी और सुहृद चिल्ला-चिल्लाकर अपना नाम बताने लगा।

अपने बन्धु-बान्धवों की इस दुर्गति को देखकर युधिष्ठिर विधि के विचित्र विधान को सोचकर शोक और दुःख से व्याकुल हो गए। उन्हें अपने कानों और अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। वे समझ नहीं पा रहे थे कि मैं जो कुछ देख रहा हूँ, वह स्वप्न है या सत्य ! उन्हें लग रहा था कि मेरा मस्तिष्क भ्रमित हो गया है। वे क्रोध में भर उठे। देवताओं और धर्म को कोसने लगे। उन्हें रह-रहकर यह अन्याय खल रहा था कि पापी दुर्योधन को तो मान-बड़ाई मिली और धर्म का साथ न छोड़ने वाले मेरे भाइयों की यह दुर्गति ! उन्होंने बड़े क्षोभ के साथ देवदूत से कहा, "आपको जिसने भेजा है, उनके पास लौट जाइये। मैं इस जगह को छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। अपने स्वामी देवराज से कह देना कि मेरे यहाँ ठहरने से मेरे इन दुखी भाई-बान्धवों को सुख मिलता है, इसलिए मैं यहीं रहूँगा।"

वह देवदूत उन्हें वहीं छोड़कर देवराज इन्द्र के पास पहुँचा और सारी बात कह सुनाई।

देवदूत को गए अभी घड़ी-डेढ़ घड़ी ही हुई थी कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता वहाँ आ पहुँचे। देवताओं के वहाँ पहुँचते ही चारों ओर प्रकाश फैल गया। इसके साथ ही वहाँ का वह सारा घिनौना दृश्य भी

न जाने कहाँ लुप्त हो गया। मन्द-मन्द सुगन्ध भरा पवन बहने लगा।

देवराज इन्द्र युधिष्ठिर से बड़े विनम्र स्वर में बोले, "हे युधिष्ठिर! तुम्हें जो यह नरक देखना पड़ा इसके लिए क्रोध न करना। समस्त राजाओं को इसे देखना ही पड़ता है। अब तुम्हारी स्वर्ग-सुख भोगने की बारी है। जो लोग पहले स्वर्ग-सुख भोगते हैं, उन्हें बाद में नरकवास मिलता है। हे राजन्! तुमने अपने गुरु-पुत्र अश्वत्थामा के बारे में छल से काम लेकर गुरु द्रोणाचार्य को उनके पुत्र की मृत्यु का विश्वास दिलाया था। यही कारण है कि तुम्हें भी छल से ही नरक दिखाया गया है। तुम्हारे भाई, पत्नी और सारे मित्र, जो तुम्हारे पक्ष में लड़े थे, सभी स्वर्गलोक में विराजमान हैं। चलकर उनके दर्शन करो। जिन महात्मा कर्ण के बारे में तुम बहुत चिन्तित हो, वे स्वर्ग में विद्यमान हैं। हे राजन्! यह तीनों लोकों को पावन करने वाली पुण्यतोया आकाशगंगा है। इसमें स्नान करके दिव्य देह प्राप्त करो।"

इसी समय धर्मराज आ उपस्थित हुए। उन्होंने इस तीसरी परीक्षा में भी खरा उतरने पर युधिष्ठिर की सराहना की। बोले, "भाइयों के साथ नरक में रहना भी तुमने स्वेच्छा से स्वीकार किया। अभी जो तुमने देखा कि तुम्हारे भाई नरक की घोर पीड़ा सह रहे हैं, वह सब देवराज इन्द्र की माया थी। वे सभी महात्मा अपने सदाचरण के कारण स्वर्ग में वास कर रहे हैं। अब शीघ्र तुम उन्हें देखोगे।"

आकाशगंगा में स्नान करते ही युधिष्ठिर का मानव स्वभाव लुप्त होकर देवस्वभाव प्राप्त हो गया। उनके सारे दुःख-संताप नष्ट हो गए। फिर वे सभी सम्बन्धियों से मिलने चल दिये।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र

त्रेता युग की बात है। उन दिनों अयोध्या में इक्ष्वाकु वंश के राजा हरिश्चन्द्र राज्य करते थे। इन्हीं के वंश में बाद में भगवान् रामचन्द्र हुए। इक्ष्वाकु वंश के राजा प्रजा-पालन और सत्य, दया, धर्म, वीरता आदि गुणों में सदा से बढ़-चढ़कर हुए हैं। राजा हरिश्चन्द्र भी प्रजा की रक्षा और पालना में तथा दान, धर्म और सत्य बोलने में सब जगह प्रसिद्ध थे। उनके राज्य की सारी प्रजा सुखी थी। कोई किसी को सताता नहीं था। कोई भूखा-नंगा नहीं था। राजा हरिश्चन्द्र जो कुछ कहते उसे कर दिखाते। उनकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं था। उनके सत्यवादी होने की प्रसिद्धि तीनों लोकों में फैल चुकी थी।

एक दिन देवताओं के राजा इन्द्र की सभा जुटी हुई थी। उस सभा में सभी प्रसिद्ध ऋषि-मुनि भी उपस्थित थे। देवराज इन्द्र ने ऋषियों से पूछा, "इस समय मृत्युलोक में सबसे यशस्वी राजा कौन है ?"

वशिष्ठ जी बोले, "देवेन्द्र ! इस समय धरती पर हरिश्चन्द्र जैसा दानी और सत्यवादी राजा दूसरा कोई नहीं है। यदि यह कहा जाए कि उस जैसा सत्यवादी राजा न अब तक हुआ और न आगे होगा, तो भी झूठ नहीं होगा।"

वशिष्ठ जी की बात का महामुनि नारद तथा अनेक ऋषियों ने भी समर्थन किया।

महर्षि वशिष्ठ हरिश्चन्द्र के पुरोहित थे। वशिष्ठ जी और

विश्वामित्र जी में कुछ बातों को लेकर पहले से मन-मुटाव भी था। इसलिए वशिष्ठ जी से हरिश्चन्द्र की बड़ाई सुनकर विश्वामित्र बोल पड़े, "वशिष्ठ जी उनके पुरोहित हैं। इन्हें राजा हरिश्चन्द्र खूब दान-दक्षिण देते हैं। इसलिए यह तो उनकी बड़ाई करेंगे ही। जिसका खाएंगे उसी के तो गुण गाएंगे। मैं हरिश्चन्द्र को खूब जानता हूं। वह क्या तो सत्य का पालन करेगा और क्या दानशीलता का! मैं उसकी परीक्षा लेकर वशिष्ठ जी की बात को झूठा सिद्ध कर दूंगा।"

सभा समाप्त हुई। सभी अपने-अपने स्थान को चले गए।

ऋषि विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने की एक योजना बनाई। उन्होंने माया-रचित एक सूअर को अयोध्या बड़े उद्यान में भेजा। वह सूअर वहां जाकर बगीचे में पौधों को उखाड़ने और नष्ट करने लगा। बाग के रखवाले उसे भगाने दौड़े तो वह उनके ऊपर टूट पड़ा। वे बेचारे भाग खड़े हुए। बाग के माली भी उस लम्बे दाँतों वाले सूअर को भगाने में असमर्थ रहे। वह किसी के भगाए नहीं भाग रहा था और सारे बाग को उजाड़े डालता था।

रखवाले हाँफते-दौड़ते राजदरबार में पहुंचे और उस भीमकाय सूअर के उत्पात मचाने की बात कह सुनाई।

राजा हरिश्चन्द्र ने अपना धनुष-बाण तथा तलवार उठाई और घोड़े पर चढ़ उस बनैले सूअर को मारने चल दिये। उनके पीछे-पीछे सेना की एक टुकड़ी भी शस्त्रों से सुसज्जित होकर चल पड़ी।

राजा हरिश्चन्द्र सीधे बाग में पहुंचे। सारा बाग उजड़ा पड़ा था। अपने पैने दाँतों से उस सूअर ने पौधों को जड़ों समेत उखाड़ फेंका था। वह अब भी वहीं था और घुर-घुर करता हुआ पौधों की जड़ों को खोद रहा था।

राजा ने ज्यों ही धनुष पर बाण चढ़ाया और सूअर को लक्ष्य

बनाना चाहा कि वह भाग खड़ा हुआ। राजा ने बाण छोड़ा पर वह सूअर को नहीं लगा। सूअर तेजी से जंगल की ओर भाग खड़ा हुआ। राजा ने घोड़े को एड़ लगाई और सूअर का पीछा करने लगा।

वह मायावी सूअर कभी तो क्षण भर को दिखाई दे जाता और फिर आँखों से ओझल हो जाता। राजा हरिश्चन्द्र ने उसे लक्ष्य करके कई बाण छोड़े पर वह फिर भी नहीं मरा। वह जोर से घुरघुराता हुआ, लुकता-छिपता घने जंगल में जा घुसा।

राजा के सैनिक राजा से बिछुड़ गए थे। सूअर का पीछा करते-करते दोपहर हो चली थी। वह ऐसे घने जंगल में जा घुसा था, जिसमें घनी झाड़ियाँ और बेलें थीं। कहीं कोई रास्ता नहीं था। इस जंगल में पैदल चलने के लिए भी जगह नहीं थी, घोड़े पर चढ़कर जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। घोड़ा और राजा सूअर का पीछा करते-करते बुरी तरह थक गए थे। भूख-प्यास भी लग पड़ी थी। सूअर आँखों से ओझल हो चुका था।

राजा ने सूअर का पीछा करने का विचार छोड़ दिया और घोड़े को पीछे मोड़ा। पर उस घने अपरिचित जंगल में राजा को कुछ पता नहीं लग रहा था कि वापस जाने की दिशा कौन-सी है। सारे सैनिक जंगल में कहीं भटक गए थे। राजा को बड़ी चिन्ता हुई। क्या करूँ, किधर जाऊँ? उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

राजा ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर देखा तो जंगल के बीचोंबीच बहती एक छोटी नदी दिखाई दी। राजा उसी ओर हो लिया। नदी तट पर पहुँचकर उसने घोड़े को पानी पिलाया और स्वयं भी पिया। पानी पीकर थका-हारा राजा छाया में सुस्ताने बैठ गया। उसे वापस अयोध्या लौटने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। उसे दिग्भ्रम-सा हो रहा था और यह पता तक नहीं चल रहा था कि राजधानी अयोध्या किस दिशा में है।

इतने में ऋषि विश्वामित्र बूढ़े ब्राह्मण का वेश बनाकर राजा के पास आ पहुँचा। राजा ने बूढ़े ब्राह्मण को प्रणाम किया। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद देते हुए पूछा, "महाराज, आप इस घोर निर्जन वन में अकेले क्या करने आए हैं ?"

राजा ने उत्तर दिया, "मैं एक सूअर का पीछा करता यहाँ आ पहुँचा हूँ। मेरी सेना मुझसे बिछुड़ गई है। मैं रास्ता भूल गया हूं। कृपा करके मुझे अयोध्या का मार्ग बता दें। मैं अयोध्या का राजा हरिश्चन्द्र हूँ। यदि धन-दान लेना चाहें तो अयोध्या नगरी में पधारें। मैं आपको भरपूर धन दान में देकर प्रसन्न करूँगा।"

ब्राह्मण ने कहा, "हे राजन्! यह पास ही बड़ा पवित्र तीर्थ है। इसमें स्नान करके पितरों का तर्पण कीजिए और दान दीजिए। तीर्थ में आकर स्नान-दान न करने से पुण्य का क्षय होता है। आप यह सब निश्चिंत होकर कीजिए। मैं आपको अयोध्या का मार्ग दिखा दूंगा।"

राजा ने ब्राह्मण की बात मानकर घोड़े को वृक्ष से बांध दिया और कपड़े उतारकर स्नान-तर्पण करने लगा। फिर ब्राह्मण से पूछा कि 'महाराज! आपको जिस वस्तु की इच्छा हो, उसका दान माँगिए। मेरे लिए कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसे मैं दे न सकूँ। मैंने राजसूय यज्ञ में मुनियों के सामने दातार्थियों को मनचाहा दान देने की प्रतिज्ञा की हुई है।'

वृद्ध ब्राह्मण बोला, "राजन्! आपके दानवीर होने की बात कौन नहीं जानता! महर्षि वशिष्ठ भी आपकी दानशीलता के बड़े प्रशंसक हैं। हे राजन्! मेरे पुत्र का विवाह है। उसके लिए मुझे धन की आवश्यकता है।"

राजा ने कहा, "यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। आप धूमधाम के साथ पुत्र का विवाह करें। जितना आप माँगेंगे, मैं आपको उतना धन दूंगा।"

वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी विश्वामित्र ने अपना लड़का और उसकी होने वाली बहू दिखा दी। फिर बोले, "महाराज! मेरे इस पुत्र के विवाह के लिए दान देने से आपको पुण्य लाभ होगा।"

राजा ने 'हाँ' कर दी। फिर ब्राह्मण ने उनका विवाह रचा दिया।

विवाह-विधि पूरी होने पर ब्राह्मण ने राजा से कहा, "राजन् ! अब वेदी में बैठकर दान कीजिए।"

राजा ने कहा, "ब्राह्मण देवता, जो आपकी इच्छा हो, वही माँगिए। मैं आपका मनचाहा देना चाहता हूँ।"

तब कपट रूपधारी विश्वामित्र ने कहा, "राजन्, इस लड़के को आप अपने समस्त राज्य का दान दीजिए।"

राजा हरिश्चन्द्र ने बिना सोचे-समझे सारा राज्य देने का वचन दे दिया।

तब विश्वामित्र बोले, "राजन् ! मेरा मनचाहा दान तो आपने दे दिया पर अब इस दान की दक्षिणा भी तो दीजिए। और जितना बड़ा दान आपने दिया है दक्षिणा भी उसके अनुरूप बड़ी ही होनी चाहिए। दक्षिणा दिये बिना तो दान निष्फल ही रहता है।"

राजा ने पूछा, "कृपा करके बताइये कि इस दान की कितनी दक्षिणा मुझे देनी होगी ?"

तब विश्वामित्र ने ढाई भार सोना दक्षिणा के रूप में माँगा।

राजा ने वचन दिया, "दे दूँगा।"

इतने में ही जंगल में भटके हुए राजा के सैनिक उन्हें खोजते-खोजते वहाँ आ पहुँचे। राजा को सकुशल वहाँ देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए।

अब राजा को ध्यान आया कि मैंने सारा राज्य तो दान में दे ही दिया, साथ ही ढाई भार सोना भी दक्षिणा के रूप में देने का वचन दिया है। राजा ने समझ लिया कि कपट वेशधारी ब्राह्मण ने मुझे ठग लिया है। जंगल में जैसे किसी अकेले व्यक्ति को कोई लूट लेता है, राजा को भी विश्वामित्र ने उसी तरह ठग लिया था। उदास, थके-हारे राजा ने महलों में प्रवेश किया और चिन्ता में डूब गया कि अब क्या होगा।

राजा को उदास और चिन्ता में डूबे देखकर रानी शैव्या ने कारण पूछा। राजा ने सारी बात रानी को बता दी। उस दिन चिन्ता के मारे राजा ने रात को भोजन नहीं किया। उसे रात भर नींद भी नहीं आई। सोचते और करवटें बदलते सारी रात बीत गई।

सवेरे राजा शीघ्र ही उठ खड़ा हुआ। शौच-स्नानादि के बाद संध्या-वन्दन करके वह ज्यों ही उठा कि ऋषि विश्वामित्र आ पहुँचे। राजा ने चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया।

विश्वामित्र बोले, "राजन्! अपनी प्रतिज्ञा को याद करो। यह समस्त राज्य अब तुम्हारा नहीं रहा। इसका स्वामी मैं हूँ। अपने वचनों का पालन करो और महलों से बाहर जाओ।"

हरिश्चन्द्र ने कहा, "महर्षि, आप रत्तीभर भी चिन्ता मत कीजिए। सारा राज्य मैं आपको सौंप रहा हूँ। मैं अभी कहीं दूसरी जगह चला जाता हूँ। किन्तु अपना सर्वस्व दान कर देने के कारण अब मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। इसलिए ढाई भार सोना जो दक्षिणा के रूप में देना है, उसे देने में असमर्थ हूँ। उसके लिए मुझे समय चाहिए। ज्योंही मेरे पास धन हो जाएगा आपकी दक्षिणा भी दे दूँगा।"

यह कहकर राजा ने अपनी रानी और पुत्र से कहा कि मैंने अपना सब कुछ दान कर दिया है। हम तीनों के शरीरों को छोड़कर अब हमारा अपना कुछ नहीं रहा। इसलिए अयोध्या को छोड़कर कहीं जंगल में जाकर रहना पड़ेगा। रानी शैव्या और पुत्र रोहिताश दोनों राजा के कहते ही चलने के लिए तैयार हो गए। उनको इस प्रकार जाते देखकर सारे सेवक और प्रजा हाहाकार करके रो उठी। वे सब भी रोते-कलपते राजा हरिश्चन्द्र के साथ चल पड़े और छलपूर्वक राजा को ठगने के लिए ब्राह्मण को कोसने कहने लगे।

राजा ने प्रजा को कह-सुनकर लौटा दिया। स्वयं तीनों जंगल की

ओर चल पड़े। वे अभी नगर से बाहर पहुँचे ही थे कि विश्वामित्र फिर आ पहुँचे। कहने लगे, "राजन् ! मेरी दक्षिणा दे दो और फिर जहाँ जी चाहे जाओ। यदि नहीं देना चाहते हो तो भी अभी बता दो। फिर मैं तुमसे नहीं माँगूंगा। मैं दक्षिणा के ढाई भार सोना छोड़ देता हूँ। अगर तुम्हें सारा राज्य दान में देने का पछतावा हो रहा हो तो भी बताओ। मैं उसे लौटा देता हूँ। किन्तु यदि तुम समझते हो कि मैंने वचन दिया है और उसे पूरा करना है तो जो दक्षिणा का ढाई भार सोना है, वह भी देकर जाओ। तुम पता नहीं कहाँ-कहाँ मारे-मारे फिरोगे ? मैं तुम्हें कहाँ ढूंढूंगा।"

विश्वामित्र के इन कठोर किन्तु सत्य वचनों को सुनकर राजा हरिश्चन्द्र ने हाथ जोड़े और उनके पाँव पर गिरकर कहा, "हे मुनिश्रेष्ठ, जब तक आपको दक्षिणा न दे लूंगा, मैं भोजन नहीं करूँगा। जो वचन मैंने दिया है, उससे पीछे हटने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आप क्रोध न कीजिये। मुझे थोड़ा-सा समय दीजिये।"

विश्वामित्र बोले, "हे राजन् ! तुम्हारे पास ढाई भार सोना कहाँ से आ जाएगा ? अपना सब कुछ तो तुम पहले ही दे चुके हो। तुम जो यह कहते हो कि दक्षिणा देकर ही भोजन करूँगा, यह बेकार की बात है। जब तुम्हारे पास कुछ है ही नहीं तो मैं तुम से बार-बार माँगूं भी कैसे ? इसलिए दक्षिणा देने की बात छोड़ो। बस एक बार इतना कह दो कि मैं नहीं दे सकता। मैं भी आशा छोड़ूं और तुम्हें तंग न करूँ। तुम भी पत्नी और पुत्र सहित जहाँ जी चाहे जाओ।"

ब्राह्मण के ये वाक्य सुनकर राजा ने उत्तर दिया, "महाराज ! थोड़ा-सा धीरज रखिए। मैं आपकी दक्षिणा चुकाकर दम लूंगा। मैं हूँ, मेरी पत्नी है और यह पुत्र ! हम तीनों अपने शरीर बेचकर आपकी दक्षिणा देंगे। मैं वाराणसी में अपना कोई ग्राहक

खोजकर उसका दास बन जाऊँगा । मेरी पत्नी भी दासी बन जाएगी और पुत्र भी दास बन जाएगा । इसके बदले में जो धन मिलेगा, उससे मैं आपकी दक्षिणा चुका दूँगा ।" यह कहकर वे तीनों भगवान् शंकर की पुरी वाराणसी जा पहुंचे । वहाँ सबने गंगा में स्नान किया और संध्या-तर्पण करके घूमने निकल पड़े । वहाँ उन्हें फिर विश्वामित्र मिल गए । राजा ने हाथ जोड़कर उनसे कहा, "मैं, मेरी पत्नी और पुत्र—तीनों ही आपके हैं । इसके अतिरिक्त भी यदि कोई सेवा हो तो हमें बताइये ।"

विश्वामित्र बोले, "भले आदमी, अपने दिए वचन को याद करो और मेरी दक्षिणा दो । आपको टालमटोल करते कितने दिन हो गए । भूल तो नहीं गए हो न ! एक मास के भीतर दे देने की बात आपने कही थी, वह पूरा हो गया ?"

"ब्राह्मण देवता ! महीना पूरा होने में अभी आधा दिन शेष है । यह आधा दिन और प्रतीक्षा कीजिए । सच मानिये, मैं अपने वचन को अवश्य पूरा करूँगा ।" हरिश्चन्द्र ने कहा ।

"अच्छी बात है । मैं सायंकाल फिर आऊंगा । और आज मुझे दक्षिणा नहीं मिली तो मैं तुम्हें शाप दूंगा । समझे !" यह कहकर विश्वामित्र तो चले गये पर हरिश्चन्द्र चिन्ता में डूब गए । केवल आधा दिन बाकी और ढाई भार सोना जुटाने की समस्या । किसी से माँग नहीं सकते, कोई हितु मित्र भी नहीं । मरने का भी सुभीता नहीं । अपना वचन पूरा किये बिना मरना उन्हें कहाँ स्वीकार था ! उधर विश्वामित्र थे कि पीछा किये जा रहे थे और खरी-खोटी सुनाते थे ।

राजा को चिन्ता में डूबे, उदास देखकर रानी से रहा न गया । बोलीं, "महाराज ! चिन्ता को छोड़िये और अपने कर्तव्य का ध्यान कीजिये । अपने वचन की रक्षा करना ही इस समय आपका प्रधान कर्तव्य है । यदि आपका दिया वचन झूठा हो गया तो आज तक के सारे

पुण्य कार्यों का फल नष्ट हो जाएगा।"

हरिश्चन्द्र ने कहा, "हाँ, बात तो तुम ठीक ही कह रही हो। मैं भी वचन-पालन के लिए तैयार हूँ पर कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। ढाई भार सोना जुटाना कोई मामूली बात नहीं है। न हमारे पास समय है और न साधन। तुमने यदि कोई उपाय सोच निकाला है या इस बारे में कुछ कहना चाहती हो तो कहो।"

रानी ने कहा, "वही कह रही हूं। ऐसा कीजिए कि मुझे किसी सेठ को बेच दीजिए और जो धन मिले उससे दक्षिणा दे दीजिए। घर का काम-काज करने के लिए दासी की आवश्यकता तो सभी धनिकों को रहती ही है।"

रानी के इन शब्दों को सुनते ही राजा हरिश्चन्द्र मूच्छित हो गिर पड़े। जब चेतना लौटी तो दुःख से विलाप करने लगे। वे बोले, "तुम्हें बेचकर मैं दक्षिणा दूं? तुमने अपने मुंह से ऐसी बात कही कैसे? क्या तुम मुझे ऐसा समझती हो?" यों कहते-कहते राजा को फिर मूर्च्छा आ गई।

राजा को दीन-हीन दशा में धरती पर मूर्छित पड़ा देखकर रानी ने मन में सोचा, 'कल का अयोध्या का राजा आज भिखारी की तरह धरती पर पड़ा है। जिस राजा ने करोड़ों स्वर्ण मुद्राएं ब्राह्मणों और याचकों को दान में दे दीं, वह आज इस दशा में यहाँ पड़ा है। पता नहीं पूर्वजन्म में हमने कौन-सा ऐसा कुकृत्य किया था जिसका फल आज हमें मिल रहा है। विधाता का विधान बड़ा बलवान् है। जो कल राजा था वह आज रंक है।' और इस असह्य दुःख के कारण रानी भी मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

उधर राजा-रानी अचेत पड़े थे और बालक रोहित की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वह भूखा-प्यासा था। बेचारा अबोध बालक क्या जाने कि उसके माता-पिता किस घोर विपत्ति में फँसे हैं।

संध्या हो चली थी। अपने कहने के अनुसार विश्वामित्र फिर आ पहुंचे। वे बड़े क्रोध में थे। लाल-लाल आँखें किये वे दूसरे यमराज ही लग रहे थे। उन्हें आता देख हरिश्चन्द्र को फिर मूर्च्छा आ गई। पर विश्वामित्र जरा भी नहीं पसीजे। वे पानी के छींटे हरिश्चन्द्र के मुँह पर मार कर उन्हें सचेत करने लगे। वे बोले, "राजन्! उठो-उठो। मेरी दक्षिणा दो। ऋण लेने वालों को देखकर ऋण देने वालों को प्रायः बेहोशी का दौरा पड़ जाता है। तुम्हारे इस कष्ट-नाश का यही बढ़िया उपाय है कि तुम मेरी दक्षिणा दे दो। फिर तुम्हारा और मेरा दोनों का कष्ट मिट जाएगा। तुमने मुझे जो समय दिया था मैं आ गया हूँ। पर लगता है तुम फिर कोई बहाना बनाने की सोच रहे हो।"

ठंडे पानी के छींटों से राजा की चेतना लौट आयी थी पर विश्वामित्र को देख और जली-कटी बातें सुनकर वे फिर मूर्च्छित हो गए। अब की बार विश्वामित्र का क्रोध दुगुना भड़क उठा। उन्होंने हिला-डुलाकर राजा को होश में लाने का प्रयत्न किया। जब हरिश्चन्द्र उठ बैठे तो विश्वामित्र बोले, "लाओ मेरी दक्षिणा। अपने वचन को पूरा करो। सत्य का पालन करने वाले को हजार यज्ञ करने जितना पुण्य मिलता है। लो, मैं भी क्या-क्या उपदेश दिए जा रहा हूँ। मुझे इससे क्या मतलब! यदि सूर्यास्त से पूर्व मुझे दक्षिणा नहीं मिली तो मैं तुम्हें शाप दूँगा। ऐसा शाप कि किसी ने किसी को दिया न हो।"

यों राजा को एक बार फिर चेतावनी देकर विश्वामित्र भड़भड़ाते चले गए। इतने में वहाँ एक विद्वान ब्राह्मण आ निकले। ब्राह्मण मण्डली से घिरे हुए वे सबसे अलग और विशेष दिखाई दे रहे थे। रानी ने उन्हें आते देखकर राजा से कहा, "ब्राह्मण अन्य तीनों वर्णों का पिता माना जाता है। इसलिए पितृतुल्य ब्राह्मण से यदि आप धन माँगते हैं तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। आप तो उनके पुत्र-समान ही हैं।

मेरी बात मानें तो इन ब्राह्मण देवता से धन लेकर दक्षिणा दे दीजिए।"

राजा ने कहा, "मैं क्षत्रिय हूँ। दान नहीं लूंगा। अरी! क्षत्रिय तो ब्राह्मणों को दान देते हैं और तू ब्राह्मण से माँगने को कह रही है। "मैं मर जाऊँगा पर माँगूँगा नहीं, मैंने तो आज तक देना ही सीखा है। दक्षिणा देनी है उसके लिए कोई उपाय करूँगा।"

रानी ने कहा, "समय बड़ा बलवान् है, राजन्! वह भिखारी को धनवान् और दानी को दीन बना देते हैं। उसके आगे किसी का वश नहीं चलता। उस समय के चक्कर से आपको राज छोड़कर आज जगह-जगह भटकना पड़ रहा है।"

हरिश्चन्द्र बोले, "माँगने की अपेक्षा मैं तलवार की तीखी नोक से अपनी जीभ काट लेना अधिक अच्छा समझता हूँ। मैं क्षत्रिय हूँ। अपनी आन को निभाऊँगा और अपने बाहुबल से कमाकर दूसरों को दान देने की परम्परा को जीवित रखूँगा।"

यह सुनकर रानी बोली, "महाराज! यदि माँगने को आपका मन नहीं है तो फिर मुझे क्यों नहीं बेच देते? मैं तो सब तरह से आपकी हूँ। मेरे मोल के धन से दक्षिणा देकर आप निश्चिन्त होइये।"

रानी की यह बात सुनकर राजा दुःखी हो उठा। रानी को बेचकर दक्षिणा देने की कल्पना करना ही हरिश्चन्द्र के लिए दुःखदायी था। पर रानी ने अपनी बात फिर दोहराते हुए कहा, "महाराज! मेरी बात मानिये और मुझे बेच दीजिए। उन क्रोधी ब्राह्मण का क्या ठिकाना कि वे क्या शाप दे डालें। आप अपनी इच्छा से नहीं, मेरी इच्छा से मुझे बेच डालिये। और फिर यह काम आप किसी बुरे उद्देश्य से थोड़े ही कर रहे हैं।"

रानी के बार-बार कहने पर राजा हरिश्चन्द्र ने कहा, "लोक-लाज छोड़कर अब यह घृणित कार्य मुझे करना होगा। पत्थर के हृदय वाला

नीच से नीच व्यक्ति भी जिस काम को नहीं कर सकता उस काम को तुम्हारा पति हरिश्चन्द्र आज करेगा ।" यह कहते हुए वे वाराणसी के भीड़-भाड़ वाले एक प्रमुख चौराहे पर जा पहुंचे । रुंधे गले से राजा ने कुछ जोर लगाकर कहा, "नागरिको, सुनो! सुनो!! यदि किसी को घर के काम-काज के लिए दासी खरीदनी हो तो जल्दी से दाम लगाओ। प्राणों से भी प्यारी अपनी पत्नी को मैं बेच रहा हूँ । इस घोर दुःख से जब तक मेरे प्राण नहीं निकल जाते तब तक जल्दी से सौदा तय कर लो।" यह कहते-कहते हरिश्चन्द्र रो पड़े ।

भीड़ में से कुछ लोग बोल उठे, "अरे ! तुम कौन हो जो इस तरह अपनी पत्नी को बेच रहे हो ?"

दुःख से बिलखते हुए हरिश्चन्द्र ने कहा, "आप जानना चाहते हैं कि मैं कौन हूं । एक ऐसे व्यक्ति का परिचय आप पूछ रहे हैं जो चौराहे पर खड़ा अपनी पत्नी बेच रहा है । क्या उसका इतना ही परिचय पर्याप्त नहीं है ! इससे अधिक मेरा और क्या परिचय होगा । यों समझिए कि मैं एक अति निर्दय, मनुष्यत्व से गिरा हुआ राक्षस हूं तभी तो इस नीच कार्य को कर रहा हूं ।"

विश्वामित्र तो लगातार उनका पीछा कर ही रहे थे । उन्होंने बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाकर हरिश्चन्द्र से कहा, "यह दासी मेरे हाथ बेच दो । मैं तुम्हें मुंहमांगा मोल दूंगा। मेरे पास धन की कमी नहीं है। मेरी पत्नी बड़ी ही कोमल है । उससे घर का काम-काज नहीं होता। मैं भी नहीं चाहता कि वह घर का काम करे । इसीलिए मुझे एक दासी की तुरंत आवश्यकता है । अब जल्दी बताओ कि तुम इसके बदले कितना धन चाहते हो ?"

हरिश्चन्द्र तो दुःख और लज्जा के मारे गड़े जा रहे थे। उनसे कुछ भी कहते नहीं बना । वृद्ध ब्राह्मण वेशधारी विश्वामित्र ने उन्हें कुछ

भी कहते न देखकर एक करोड़ सोने की मोहरें हरिश्चन्द्र को थमा दी। हरिश्चन्द्र को तो जैसे काठ मार गया। वे कुछ भी बोल न सके। बूढ़ा ब्राह्मण रानी शैव्या को बालों से पकड़कर खींचता हुआ ले चला। शैव्या कहने लगी, "ब्राह्मण देवता ! मुझे जरा-सी देर के लिए छोड़ दो। मैं एक बार अपने प्यारे बेटे का मुँह तो चूम लूँ। उसे एक बार छाती से लगाकर जी भरकर प्यार तो कर लूँ। कौन जाने मैं फिर उसे देख भी सकूँगी या नहीं।

"मेरे लाल ! मेरे दिल के टुकड़े !! तुम्हारी रानी माँ आज दासी बन गई है। बेटा ! आज से न मेरा तुझ पर कोई अधिकार रहा और न तेरा मुझ पर।" यों गीली आँखों और रुँधे गले से रानी बच्चे के बहाने जैसे अपने को ही समझाने लगी। पर बालक रोहिताश्व यह सब क्या जाने। वह 'माँ-माँ' कहता माँ से लिपट गया और रोने-कलपने लगा। हरिश्चन्द्र पत्थर की मूर्ति बने खोए-से यह सब अपलक नेत्रों से देख रहे थे। उन्हें पुत्र रोहिताश्व को संभालने पुचकराने की भी सुध नहीं थी। इधर अबोध रोहिताश्व माँ की धोती को अपनी ओर खींच रहा था, उधर ब्राह्मण रानी की चोटी पकड़े जल्दी चलने को कह रहा था। दीन-दुखी रानी से न जाते बनता था, न रुकते। उसका आंचल ममता ने पकड़ रखा था और केश कर्तव्य ने। उसका हृदय पति और पुत्र से बिछुड़ने के दुःख से फटा जा रहा था। बूढ़े ब्राह्मण ने देखा कि बेटा माँ को छोड़ता ही नहीं है और व्यर्थ ही देर हो रही है तो उसने बालक रोहिताश्व के मुँह पर दो तमाचे जड़ दिये और उसे खींचकर माँ से अलग कर दिया। पर वह रोता-रोता और 'माँ-माँ' पुकारता फिर माँ से लिपट गया।

माँ की ममता आँखों के रास्ते फूट पड़ी। उसे लगा कि पुत्र का स्नेह उसे जकड़ रहा है। उसने ब्राह्मण से कहा, "पंडित जी ! आप इस बालक को भी खरीद लीजिए। यदि आप इसे नहीं खरीदते तो आपका

मुझे खरीदना भी बेकार जाएगा। इसके बिना मैं कैसे जीती रहूँगी ? मैं इसकी माँ हूँ। ममता के बन्धन को कैसे काटूँ ? आपकी मुझ भाग्यहीन पर बड़ी कृपा होगी। यह मेरी आँखों के सामने रहेगा तो मैं आपकी सेवा और अच्छी तरह कर सकूँगी।"

ब्राह्मण ने सोच-विचारकर बालक रोहिताश्व को भी खरीद लिया। अब शैव्या के मन में कुछ धीरज बँधा। उसने हरिश्चन्द्र की प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया और आँसू बहाती रुँधे गले से बोली, "यदि मैंने दीन-दुखियों की कुछ भी सहायता की हो, यदि मैंने देवताओं, ब्राह्मणों और पितरों का विधिपूर्वक पूजन-तर्पण किया हो तो मुझे मेरा पति दोबारा प्राप्त हो।"

पाँवों में पड़ी अपनी प्राणों से भी प्यारी पत्नी को बिछुड़ते देखकर हरिश्चन्द्र का हृदय हाहाकार कर उठा। वे विलाप करते हुए बोले, "वृक्ष की छाया भी उसे छोड़कर कभी नहीं जाती, फिर तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रही हो ? मेरे किसी पाप-कर्म का फल यह मुझे मिल रहा है ? मुझे राज्य चले जाने और वनवास से भी दुःख नहीं हुआ। पर पत्नी और पुत्र के विछोह के दुख को मैं कैसे सहन करूंगा ? मुझ मन्द-भाग्य पति को पाकर तुम्हें आज दासी बनना पड़ा। अब मुझे इस दुःख-सागर में डूबते को कौन उबारेगा ?"

हरिश्चन्द्र के देखते-देखते वह ब्राह्मण उन माँ-बेटों को घसीटता-सा ले चला। वे जब मुड़कर पीछे हरिश्चन्द्र को देखने लगते तो ब्राह्मण उन्हें कोड़े से मारता और जल्दी-जल्दी चलने को कहता।

उन्हें यों पिटते देखकर हरिश्चन्द्र तड़प उठे। वे अपने को बार-बार धिक्कारने लगे कि मुझ नीच के कारण ही आज इन्हें ये दिन देखने पड़े और कष्ट भोगने पड़े। हाय ! मेरा हृदय वज्र-सा कठोर है। इससे तो अच्छा था कि मैं यह दारुण दुःख देखने से पहले ही मर जाता"

हरिश्चन्द्र रोता-बिलखता रहा। शैव्या और रोहिताश्व भी पिटते-पिटते दूर निकल गए और दृष्टि से ओझल हो गए। इतने में शिष्यों सहित विश्वामित्र आ पहुँचे और दक्षिणा माँगने लगे।

हरिश्चन्द्र ने उनके पैर छुए और पत्नी-पुत्र को बेचने से जो धन मिला था, उन्हें सौंप दिया।

विश्वामित्र बोले, "राजन्! पहले मुझे यह बताओ कि यह धन तुमने कैसे प्राप्त किया? क्या यह तुम्हारी कमाई का धन है?"

हरिश्चन्द्र बोले, "महर्षे, यह जानकर आप क्या करेंगे? इस धन-प्राप्ति की दारुण कथा कहते मुझे बड़ा कष्ट होगा। आप तो अपनी दक्षिणा लीजिए।"

"यह नहीं होगा। बिना जाने मैं इस धन को नहीं लूँगा। पता नहीं यह कैसी कमाई का है। मुझे तो नेक कमाई का धन चाहिए। समझे!" ऋषि क्रोध में बोले।

हरिश्चन्द्र ने कहा, "मैंने अपनी पत्नी और पुत्र को बेचकर यह धन प्राप्त किया है। एक करोड़ सुवर्ण मुद्राओं में पत्नी को बेचा और दस करोड़ में पुत्र को। ये ग्यारह करोड़ की राशि आप अपनी दक्षिणा के रूप में ग्रहण कीजिए।"

पर ऋषि विश्वामित्र इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। कहने लगे, "यह तो बहुत कम है। मुझे पूरा चाहिए। नहीं दे सकते तो मना कर दो न? देना है तो पूरा दो। राजसूय-यज्ञ की दक्षिणा क्या बस इतनी ही होती है? और लाकर इसे पूरा करो। और अगर तू समझता है कि यही काफी है तो फिर मैं तुझे अभी मजा चखाता हूँ। तुमने समझ क्या रखा है! मैं ऐसा-वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं अपने तेज और तप का प्रभाव अभी तुझे दिखाता हूँ। बोल, और देगा कि नहीं?"

हरिश्चन्द्र बोले, "महर्षे! दूँगा, और भी दूँगा। आप क्रोध मत

कीजिए। थोड़ा-सा समय मुझे और दीजिए।"

"दिन अस्त होने तक जो कुछ कर सकते हो, कर देखो। इससे अधिक एक क्षण की भी प्रतीक्षा मैं नहीं कर सकता। महीना तो हो गया, अब तक कहाँ सोए हुए थे।"

जितना धन था, उसे लेकर विश्वामित्र चलते बने। हरिश्चन्द्र शोक-संतप्त हृदय से किसी तरह खड़े हुए और पुकार-पुकारकर कहने लगे, "कोई है मेरा खरीदार ? सूरज डूबने से पहले-पहले मैं बिक जाना चाहता हूँ। जिसे जरूरत हो वह जल्दी बोले।"

क्षणभर बाद धर्मराज चाण्डाल का रूप बनाकर खरीदने के लिए आ गए। काला रंग, बढ़े हुए बेढंगे दाढ़ी-मूँछ, पीले बाहर निकले हुए दाँत। सारे शरीर से दुर्गन्ध आ रही थी। चाण्डाल बोला, "मुझे एक दास की बड़ी जरूरत है। मैं तुझे खरीदूँगा। ठीक से काम करेगा न ? मैं चाण्डाल हूँ। मेरा काम है मुर्दे का कफन लेना। वही तुझे भी करना होगा। बोल, क्या दाम लेगा ?"

अपने खरीददार को देखकर ही हरिश्चन्द्र काँप उठे थे। जब उस घृणित काम का परिचय मिला तो उनका दिल बैठ गया। पर दिन अस्त होने को था। दूसरा कोई खरीददार भी नहीं था। विश्वामित्र फिर पहुँचने ही वाले थे। वचन झूठा जाने से तो चाण्डाल की नौकरी ही भली। मरता क्या न करता ! राजा चाण्डाल का दास बनने को प्रस्तुत हो ही रहे थे कि दण्ड-कमण्डल लिए विश्वामित्र आ धमके। आते ही उन्होंने हरिश्चन्द्र को अस्ताचल की ओर देखने का संकेत किया। फिर बोले, "यह चाण्डाल तुझे मनचाहा मोल देने को तैयार है, फिर क्या सोच रहा है ? अरे, जल्दी से इससे ले और मेरे हवाले कर। इसमें सोच-विचार की क्या बात है ?"

राजा ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "महर्षे ! मैं सूर्यवंशी क्षत्रिय हूँ।

पैसों के लिए मैं चाण्डाल का दास बनूं ?"

"कौन तुम्हें विवश करता है ! मत बनो। ब्राह्मण या क्षत्रिय के दास बन जाओ। चाहे जिसका दास बनो, मुझे इससे कोई सरोकार नहीं। मुझे तो मेरी दक्षिणा दे दो। और जो नहीं देते हो तो लो मैं अभी शाप देता हूँ। आधी घड़ी दिन शेष है। बस, उतनी देर और देखूंगा। फिर तू होगा और आग जैसा मेरा शाप। नौकरी में भी नखरा नहीं चलता और तुम दास बनने को तैयार होकर भी ऊँच-नीच की बात सोचते हो। जो दास हो गया वह तो स्वयं नीचातिनीच हो गया।"

राजा ने महर्षि के पाँव पकड़ लिए और बोले, "महर्षे ! मुझ पर कृपा कीजिए। मुझे चाण्डाल का दास होने से बचाइये। मुझे आपकी दक्षिणा का जो शेष धन देना है उसके बदले मैं आपका दास बनने को तैयार हूँ। मैं पूरे मन से आपकी सेवा करूंगा। कृपा करके मुझे अपने ही पास रख लीजिए।"

महर्षि ने कहा, "चलो, तुम्हारी ही बात मान लेता हूं। पर तुम्हें सदा मेरी आज्ञा माननी होगा ?"

राजा हरिश्चन्द्र चाण्डाल की दासता से छुटकारा मिल जाने से बहुत प्रसन्न हुए। बोले, "महात्मन् ! आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगा। आज्ञा कीजिए, मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ?"

विश्वामित्र ने चाण्डाल को बुलाकर कहा, "देखो, यह मेरा खरीदा हुआ दास है। मैं इसे बेचना चाहता हूँ। वास्तव में मुझे किसी दास-वास की आवश्यकता नहीं है। मुझे तो नकद-नारायण चाहिये। बोलो क्या दोगे ?"

यह सुनकर चाण्डाल की बांछें खिल गईं। उसने दास के बदले में इतना धन विश्वामित्र को दिया कि वे प्रसन्न हो उठे। विश्वामित्र धन लेकर चलते बने और जाते-जाते राजा को कहते गए कि आज से तुझे चाण्डाल की आज्ञा का पालन करना होगा। मेरा-तुम्हारा लेन-देन बराबर हुआ।

चाण्डाल राजा को बाँधकर ले चला। राजा भूखा-प्यासा रात को चाण्डाल के झोंपड़े में जमीन पर लेटा-लेटा सोचने लगा, 'रानी सोचती होगी कि एक न एक दिन राजा धन कमाकर ब्राह्मण से ली हुई कीमत लौटा देंगे और हमें छुड़ाकर ले जाएंगे। और जब रोहिताश्व पिता के पास जाने की हठ करेगा और रो-रोकर बेहाल हो जाएगा तो वह उसे शीघ्र ही पिता के पास ले चलने का आश्वासन देगी। पर उसे क्या पता कि कल का राजा हरिश्चन्द्र आज चाण्डाल का दास बना हुआ है।'

चार दिन तक चाण्डाल ने राजा को बाँधकर झोंपड़े में डाले रखा। जब पाँचवाँ दिन हुआ तो उसे खोला और काशी के दक्षिण में श्मशान पर नियुक्त कर दिया। चाण्डाल ने उसे बाँस का फटा-सा डंडा देकर कहा कि खबरदार जो श्मशान में बिना कफन लिए कोई मुर्दा जलने दिया। दिन-

रात तुम्हें यहाँ पहरा देना होगा। जरा भी लापरवाही की तो खाल खींच लूंगा।"

हरिश्चन्द्र स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए मुर्दे का कफन ले लेते, तभी मुर्दा जलने देते। इसी तरह दिन पर दिन बीतते गए।

काशी का यह श्मशान बड़ा भयानक और विस्तृत था। विश्वनाथ की नगरी होने और पतित-पावनी गंगा का पुण्य तट होने से दूर-दूर के मरणासन्न लोग पुण्य-लाभ के लिए यहाँ प्राण त्यागने आते। इसी उद्देश्य से दूर-दूर के लोग यहीं आकर शव का दाह संस्कार करते।

श्मशान में जहाँ देखो वहीं धू-धू करके आग जल रही होती। तेज लपटों में जलते हुए मुर्दों की हड्डियाँ चटखतीं। मांस-मेद के जलने की दुर्गन्ध चारों ओर फैलती। बुझी चिताओं का धुआँ नहीं रोने वालों को भी रुलाता। कहीं अधजले रह गए मुर्दों को गीध नोचते और कहीं कुत्ते उनसे छीना-झपटी करते दिखाई देते। झुलसी हुई अधजली खोपड़ियों में सफ़ेद-सफेद दाँत बड़े डरावने दिखाई देते। ऐसा लगता जैसे मुर्दे जीवितों पर हँस रहे हों। जो मुर्दे जलाने आते, उनका रोना-चिल्लाना तो और भी हृदय-विदारक होता। कोई माँ को पुकार-पुकारकर रोता और कोई 'हा पिता!' 'हा पिता!!' पुकारता। कोई स्त्री पति को रो-रो याद करती और कोई पुत्र को। कोई बहन भाई के लिए रोती और कोई भाई भाई के लिए। यहाँ हर कोई रोता हुआ आता और यहाँ से रोता हुआ जाता। मनुष्य शरीर की क्षण-भंगुरता यहाँ सबके सामने उजागर हो जाती। पिता यत्न से पालित अपने पुत्र को यहाँ अग्निदेव को समर्पित कर जाते। श्मशान के देवता रुद्र के गण यहाँ रातभर मन माने विचरते।

इस महाभयानक श्मशान में लट्ठ हाथ में लिए हरिश्चन्द्र लगातार इधर से उधर चक्कर काटते रहते और जो भी अर्थी आती उसका कफन ले लेते। वे पूरे चौकस रहकर बिना कफन लिए किसी मुर्दे को जलाने न

देते। उन्हें न दिन को चैन मिलता और न रात को।

एक दिन कुमार रोहित अपने हमजोली बालकों के साथ खेलने निकल गया। नगर से बाहर खेल-कूदकर घर लौटते समय अपने स्वामी ब्राह्मण को प्रसन्न करने के लिए उसने कुशा के बहुत-से पौधे जड़मूल-सहित उखाड़कर इकट्ठे कर लिए। फिर उसने स्वामी के होम के लिए पलाश की सूखी समिधाएं इकट्ठी कीं और उस गट्ठर को उठाकर घर की ओर लौट चला। राह चलते बोझ से थका और प्यास से व्याकुल रोहिताश्व एक जलाशय के किनारे रुक गया। समिधाओं का गट्ठर उसने पास की ऊंची बाँबी पर रख दिया ताकि दोबारा उठाने में सुविधा हो। इसके बाद पानी पीकर और घड़ीभर सुस्ताकर वह उठ खड़ा हुआ। वह ज्योंही गट्ठर को उठाने लगा कि बांबी में रहने वाले काले नाग ने उसे डस लिया। साँप के डसते ही रोहिताश्व धरती पर अचेत होकर गिर पड़ा। रोहित को साँप के काटने से मरा जानकर साथी बालक दौड़ते हुए घर की ओर भागे और वहाँ रोहित की माँ शैव्या से उन्होंने सारी बात कह सुनाई। बेटे की मृत्यु का समाचार सुनते ही शैव्या मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। इतने में बूढ़ा ब्राह्मण भी वहाँ आ पहुँचा और लाल-पीला होने लगा। उसने पानी के छींटे देकर दासी शैव्या की मूर्च्छा दूर करने का प्रयत्न किया। जब वह सचेत होकर रोती हुई उठ बैठी तो बूढ़े ब्राह्मण ने उसे झिड़कते हुए कहा, "कलमुँही! इस संध्याकाल में तू रोकर मेरे घर में अमंगल कर रही है। दुष्टे! तुझे लज्जा नहीं आती!" बेचारी शैव्या चुप रहकर सब सुनती रही। पर उसकी रुलाई फिर भी नहीं रुकी। तब ब्राह्मण ने उसे फिर फटकारते हुए कहा, "अरी, उठ! घर का सारा काम करने को पड़ा है। तुझसे काम नहीं होता तो फिर मुझसे मोल किस बात का लिया था?"

तब रोती-बिलखती रानी ने बताया कि मेरे बेटे को साँप ने काट

लिया है और वह नगर के बाहर मरा पड़ा है। मुझे अन्तिम बार उसे देखने की आज्ञा दीजिए।

यह सुनकर तो ब्राह्मण का क्रोध और भी भड़क उठा। वह बोला, "तू जानती नहीं कि जो दास स्वामी का कार्य ठीक से नहीं करते हैं उन्हें घोर पाप लगता है। उठ और अपना काम कर।"

शैव्या मारे डर के कांपती हुई ब्राह्मण के पैरों पर गिर पड़ी और घड़ी भर के लिए छुट्टी माँगने लगी। पर ब्राह्मण देवता नहीं पसीजे। बोले, "तेरा बेटा मर गया तो मैं क्या करूँ? मैंने कह दिया न कि जब तक काम पूरा नहीं होता, छुट्टी नहीं मिल सकती। उठती है कि लाऊं कोड़ा। लातों के भूत बातों से नहीं मानते।"

आँसू बहाती शैव्या घर का कामकाज करने लगी। खा-पीकर जब ब्राह्मण देवता सो गए तो उनके पैरों के तलवों में शैव्या ने तेल मला। आधी रात होने को आयी थी। सोते-सोते ब्राह्मण ने कहा कि तू अब बेटे को देखने जा सकती है, पर जल्दी लौट आना। कहीं ऐसा न हो कि प्रातः के काम पड़े रह जायँ और तू सोयी रहे।

सुनसान आधी रात में शैव्या अकेली मरे पड़े पुत्र के पास पहुँची। मृतवत्सा गौ की तरह रोती रानी ने कुशाओं और समिधाओं के पास बड़े पुत्र को देखा। हृदय-विदारक विलाप करती हुई शैव्या बोली, "बेटा, मुझसे क्यों रूठ गए हो, बोलते क्यों नहीं? उठो, यह तुम्हारी कैसी नींद है। देखो मैं कौन खड़ी हूँ। पहले तो कभी तुम इतना हठ नहीं करते थे। मुझे देखते ही 'माँ-माँ' करते लिपट जाते थे। फिर आज क्यों नहीं बोलते! बोलो न! अपनी माँ से नहीं बोलोगे?" यों रोती हुई शैव्या बेहोश होकर रोहिताश्व के शव के ऊपर गिर पड़ी। फिर जब होश में आकर उठी तो बेटे की लाश को छाती से लगाकर प्यार करने लगी और उसके मुँह पर मुँह रखकर रोने लगी। उसने अपना सिर और

छाती पीट-पीटकर बुरा हाल कर लिया। वह कहीं जीवित ही न हो, यह सोचकर कभी उसके हृदय को धड़कन को और कभी नाड़ी को देखती। कभी अपने पति को पुकारती और कहती कि यह देख लीजिए आपका प्राण-प्यारा बेटा आज इस दुनिया से चला गया। "अरे बेटा! तुम्हारे सारे साथी अपने-अपने घर गए, तुम इस आधी रात को यहाँ क्यों पड़े हो? उठो, घर चलो न! बोलते क्यों नहीं? सुनते क्यों नहीं?' राज्य चला गया, अपनी जन्मभूमि भी छोड़नी पड़ी। राजा बिक गए। मैं बिककर दासी बन गई। फिर तेरा मुँह देखकर अब तक जी रही थी। बेटा! जब तू जन्मा था तो ज्योतिषियों ने कहा था कि यह दीर्घायु होगा। राज्य का शासन करेगा। बेटों-पोतों वाला होगा। शूरवीर, दानी और गौ-ब्राह्मण का सेवक होगा। बेटा! वे सब बातें तूने आज झूठी कर दीं। तेरे हाथों की रेखाओं में तेरे चक्रवर्ती सम्राट् होने के अनेक चिह्न—चक्र, मछली, छत्र, स्वास्तिक, ध्वजा और कलश—थे। वे सब भी व्यर्थ गए। न जाने पूर्वजन्म का यह कौन-सा पाप फला है।"

आधी रात को शैव्या का इस तरह रोना-चिल्लाना सुनकर वहाँ का चौकीदार और पास-पड़ोस के लोग आ पहुँचे। वे बोले, "तू कौन है? यह बालक किसका है? तेरा पति कहाँ है? आधी रात को तू अकेली यहाँ क्यों रो रही है?"

पर शैव्या क्या बोलती! उन्हें अपनी व्यथा-कथा सुनाने का तो यह अवसर था नहीं। शोक से उसकी छाती फटी जा रही थी। वह रोती रही। रोती रही।

वे लोग आपस में फुसफुसाने लगे और कहने लगे कि इसी ने इस बालक को मारा है। वे शैव्या को मारने के लिए तैयार हो गए। वे उसे डायन समझ बैठे थे। किसी ने उसे बालों से खींचा, किसी ने बाँहें पकड़कर घसीटा। व उसे गर्दन से पकड़कर खींचते हुए चाण्डाल के पास ले

गए। उसे बच्चे मार कर खाने वाली बताते हुए उन्होंने चाण्डाल को उसका वध करने के लिए कहा।

चाण्डाल ने कहा, "आपने बहुत अच्छा किया जो इसे पकड़कर ले आए। अब तक इसने कितने ही बच्चे मार खाए हैं और कोई इसे पकड़ नहीं पाया था।" उसने शैव्या को रस्सी से बाँधकर कोड़े से खूब पिटाई की। फिर उसने अपने दास हरिश्चन्द्र को बुलाकर आज्ञा दी कि इस दुष्टा बालघातनी को ले जाओ और मार डालो।

हरिश्चन्द्र इस घृणित आज्ञा को सुनकर काँप उठे। एक स्त्री के वध का कलंक वे अपने माथे पर लगाना नहीं चाहते थे। बोले "यह नीच कर्म मुझसे नहीं होगा। मुझे दूसरा चाहे जितना कठिन काम बता दीजिए।"

चाण्डाल ने कहा, "डरो मत, तलवार निकालो और इसकी गर्दन अलग कर दो। यह पाप नहीं, पुण्य है। बल्कि इसे जीवित छोड़ना ही पाप है। जिस एक को मारने से बहुतों के प्राण बचें, उसे तत्काल मार डालना चाहिए। फिर चाहे वह स्त्री हो या और कोई।"

हरिश्चन्द्र स्त्री-वध के लिए तैयार नहीं हुए तो चाण्डाल का क्रोध भड़क उठा, "तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करना पड़ेगा। मैंने तुम्हें खरीदा है। यदि तुम्हें धर्माधर्म का इतना ही विचार है तो फिर दास क्यों बने थे। यह लो तलवार और काटो इसका सिर!"

रात के अँधेरे में न तो हरिश्चन्द्र ने शैव्या को पहचाना और न शैव्या ने हरिश्चन्द्र को। हरिश्चन्द्र ज्यों ही तलवार निकालकर उस स्त्री को मारने के लिए तैयार हुआ, वह बोली, यहाँ पास ही मेरा बेटा मरा पड़ा है। मुझे उसे जला लेने दो, फिर तुम मेरा सिर काट लेना।"

वह जाकर रोती-बिलखती बच्चे को उठा लाई। फिर भी दोनों ने एक-दूसरे को नहीं पहचाना। पर जब रानी ने रोते-रोते रोहिताश्व का नाम लिया तो हरिश्चन्द्र पर जैसे किसी ने वज्र की चोट कर दी।

उसने जान लिया कि यह मेरी पत्नी है और मृत बालक मेरा पुत्र।

अब तो राजा भी पुत्र के बचपन की बहुत-सी बातें याद करके रोने लगा और रोहिताश्व के शव को हृदय से लगाकर प्यार करने लगा। हरिश्चन्द्र के स्वर को पहचान कर रानी भी जान गई कि चाण्डाल-वेश में उसी का पति है। क्षण-भर को वह पुत्र का शोक भूल गई। पति के दर्शन से पल भर को वह प्रसन्न हुई पर उसे चाण्डाल का काम करते देखकर रो-रोकर भाग्य को कोसने लगी। "मैं जो कुछ देख रही हूँ वह स्वप्न है या सत्य! यदि यह सच है तो मैं कहूँगी धर्म-कर्म से सुख की बात बिलकुल झूठी है।"

हरिश्चन्द्र ने चाण्डाल के हाथ बिकने की सारी कहानी कह सुनाई और शैव्या ने रोहिताश्व के मरने की।

अब बालक रोहिताश्व का दाह-संस्कार करने के लिए शैव्या ने हरिश्चन्द्र से कहा तो वे बोले, "प्रिये! मेरे स्वामी वीरबाहु चाण्डाल की आज्ञा है कि मैं बिना कफन लिए किसी को शव न जलाने दूं। इसलिए मैं विवश हूँ। तुम्हें कफन देना होगा। तभी इसे जला सकोगी।"

पर शैव्या के पास कफन कहाँ से आता! वह तो स्वयं दासी थी और साँप के काटने से सड़क पर पड़े बालक को उठा लायी थी। शैव्या ने हरिश्चन्द्र से कहा, "स्वामी, यदि आप चाण्डाल के दास हैं तो मैं भी ब्राह्मण की दासी हूँ। पुत्र जैसा मेरा है, वैसे ही आपका भी है। इसका दाह-संस्कार करना आपका कर्तव्य है। मेरे पास कफन नहीं है तो कहाँ से दूं?"

हरिश्चन्द्र की छाती इस समय दुःख से फटी जा रही थी। अपनी विवशता की बात सोच उनका धैर्य चुका जाता था। आज अपने ही मृत पुत्र का दाह-संस्कार वे नहीं करने दे रहे थे। जिस धर्म के पालन और रक्षा के लिए उन्होंने इतने कष्ट उठाए थे, वही धर्म इस समय उनके आगे आ रहा था। वे क्या करें, कुछ समझ नहीं पा रहे थे। बिना कफन लिए बेटे को

जलाने देते हैं तो स्वामी की आज्ञा के उल्लंघन से धर्म जाता है। हृदय पर पत्थर रखर वे बोले, "कुछ भी करो, कहीं से भी लाओ, कफन लिए बिना मैं इसका दाह-संस्कार नहीं करने दूंगा।"

तब रानी ने अपनी धोती का आधा भाग फाड़कर कफन के रूप में दे दिया और शेष आधे भाग से जैसे-तैसे अपने शरीर को ढँका।

जब चिता जलने को हुई तो शैव्या ने कहा कि अब आप अपने स्वामी की आज्ञानुसार मेरा वध कीजिए।

अपनी ही पत्नी के वध के इस कठोर घृणित कार्य को करना हरिश्चन्द्र को दुष्कर लगा। उन्होंने कहा, "यह मुझसे नहीं होगा। मेरी सहनशक्ति समाप्त हो चुकी है। मैं इस चिता में कूदकर आत्मदाह करूँगा।" यह कहते हुए वे चिता में कूदने को तैयार हो गए।

इतने में क्या चमत्कार हुआ कि स्वर्ग के सभी प्रमुख देवता वहाँ आ प्रकटे। उन्होंने हरिश्चन्द्र को आत्म-दाह करने से रोक दिया।

धर्मराज बोले, "मैं तुम्हारे धर्माचरण से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही यह सब किया गया है।"

इन्द्र बोले, "महाराज हरिश्चन्द्र ! मैं इन्द्र हूँ। तुम्हें स्वर्ग ले जाने के लिए आया हूँ। तुमने अपने सत्याचरण से तीनों लोकों को जीत लिया है।"

तभी आकाश से अमृत-वर्षा हुई और रोहिताश्व जीवित हो उठा। हरिश्चन्द्र और शैव्या ने रोहिताश्व को छाती से लगा लिया और बार-बार प्यार करने लगे। उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं था।

इन्द्र बोले, "महाराज ! अब आप तीनों जने स्वर्ग चलिए। यह विमान आपको ले जाने के लिए तैयार खड़ा है।"

हरिश्चन्द्र हाथ जोड़कर बोले, "मैं तो वीरबाहु चाण्डाल द्वारा खरीदा हुआ, उनका दास हूँ। उनकी आज्ञा के बिना मैं कोई कार्य नहीं कर सकता।"

धर्मराज बोले, "मैंने तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए चाण्डाल का रूप बनाया था और ये महर्षि विश्वामित्र ही बूढ़े ब्राह्मण का वेश बना कर तुम्हारी पत्नी और पुत्र को खरीद ले गए थे। महर्षि भी तुम्हारी सत्यनिष्ठा से बहुत प्रसन्न हैं। अब तुम्हें किसी से आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है। जल्दी करो और विमान पर बैठ जाओ।"

हरिश्चन्द्र ने धर्मराज, इन्द्र, विश्वामित्र तथा समस्त उपस्थित देवताओं को प्रणाम करके कहा, "क्षमा कीजिए। मेरे राज्य के प्रजाजन मेरे दुःख से दुःखी हैं। मैं उनको छोड़कर स्वर्ग कैसे जा सकता हूं! हाँ, यदि मेरे साथ वे भी स्वर्ग जा सकते हों तो मैं चल सकता हूँ।"

इन्द्र बोले, "यह कैसे हो सकता है! सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। तुम्हारे कर्मों का फल उन्हें कैसे मिल सकता है?"

हरिश्चन्द्र ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "देवराज! मैंने जो भी दान-पुण्य, यज्ञ तथा अन्य अच्छे कार्य किए हैं, उन सबमें प्रजा भागीदार है। राजा का पुण्य, प्रजा का ही पुण्य है। इसलिए इसके बदले में मिलने वाले स्वर्ग-सुख को भी मैं उसके साथ बाँटकर ही भोगूंगा। फिर चाहे हम सबके हिस्से में एक दिन भर का स्वर्ग-सुख ही क्यों न आए।"

देवराज ने हरिश्चन्द्र की बात मान ली। फिर हरिश्चन्द्र अयोध्या को लौट गए और सारी प्रजा में घोषणा करवा दी कि जो भी प्रजाजन संसार से विरक्त हो गया हो और स्वर्ग जाना चाहता हो वह तैयार हो जाए।

कितने ही वृद्ध प्रजाजन अपना भार पुत्रों को सौंपकर हरिश्चन्द्र के साथ स्वर्ग जाने को प्रस्तुत हो गए।

हरिश्चन्द्र ने रोहिताश्व का राज्याभिषेक करके राज-काज उसे सौंप दिया और रानी तथा अनेक प्रजाजनों सहित स्वर्ग-राज्य का सुख भोगने चल दिये।

***